।। श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ।।

रासलीला

श्रीहरिदास शास्त्री

।। श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्।।

रासलीला

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामम्।
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

श्रीधाम वृन्दावन वास्तव्येन न्याय वैशेषिक शास्त्रि, नव्य
न्यायाचार्य, काव्य, व्याकरण, साङ्ख्य, मीमांसा,
वेदान्त, तर्क, तर्क, न्याय, वैष्णवदर्शनतीर्थ,
विद्यारत्नाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदास शास्त्रिणा
सङ्गृहीता।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :-
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह,
वृन्दावन, मथुरा, (उत्तर प्रदेश)।
श्रीचैतन्याब्द—५२८

प्रकाशक :-

श्रीहरिदास शास्त्री

संस्थापकाध्यक्ष :-

श्रीहरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान

श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह,

वृन्दावन, मथुरा, (उत्तर प्रदेश)।

प्रकाशन तिथि :

श्रीराम जन्मोत्सव

चैत्र नवमी शुक्ल पक्ष, सम्वत् २०७०, श्रीगौराङ्गाब्द ५२८

प्रथम संस्करण

प्रकाशन सहायता- ५०/- रुपये

।। श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्।।

रासलीला

अवतरणिका

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह:।
अनादिरादिर्गोविन्द:सर्वकारणकारणम्॥

श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं, सच्चिदानन्दविग्रह, अर्थात् उनकी श्रीमूर्त्ति, नित्य ज्ञानानन्द स्वरूप है, आप स्वयं अनादि हैं, अत: समग्र तत्त्व के आदि हैं, आप सबके मूल हैं, आप के पहले अपर कोई तत्त्व नहीं हैं, आपका अपरनाम श्रीगोविन्द हैं, आप अनन्त जगत के समग्र कारणों के मूल कारण स्वरूप हैं।

श्रीकृष्ण का विग्रह सच्चिदानन्द है, सच्चिदानन्द विग्रह रूप होने पर विग्रह ही उनकी आत्मा तथा आत्मा ही विग्रह है, अतएव जीव के समान देह देही भाव उनमें नहीं है। श्रीशुक ने भी कहा है–

"कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभातिमायया।।"

अखिल आत्माओं की आत्मा कृष्ण को ही तुम जानना, जगत् वासियों के मङ्गल विधान के लिए एकता अनुकूलता रूप सत् शिक्षा प्रदान हेतु कृपा पूर्वक देही की भाँति दिखाई देते हैं। तथापि उनकी देहिवल्लीला,करुणापरवशता से ही है। माया शब्द का अर्थ दम्भ, कृपा विश्वप्रकाश कोष में है।

द्वादश स्कन्ध (१२।११।२५) में श्री सूत ने कहा है–

श्रीकृष्ण कृष्ण सख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्राजन्यवंश दहनानपवर्गवीर्य।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत तीर्थश्रव: श्रवण मङ्गलपाहि भृत्यान्॥

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आप अर्जुन के सखा हैं। आपने

यदुवंशशिरोमणि के रूप में अवतार ग्रहण करके पृथ्वी के द्रोही भूपालों को विनष्ट कर दिया है। आपका पराक्रम सदा एकरस रहता है। व्रज की गोपवनिताएँ और आपके नारदादि प्रेमी निरन्तर आपके पवित्र यश का गान करते रहते हैं। गोविन्द ! आपके नाम, गुण और लीलादि का श्रवण करने से ही जीव का मङ्गल हो जाता है। हम सब आपके सेवक हैं। आप कृपा करके हमारी रक्षा कीजिए।

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभिरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥२९॥

ब्रह्मसंहिता के चिन्तामणि प्रभृति श्लोकों के द्वारा, इस गोलोक में मन्त्रभेद से गोलोक के एक देश में वृहद् ध्यान मयादि में एवं एक ही मन्त्र का रासमयादिमय निवास स्थान रूप योगपीठ होने पर भी मध्यवर्त्ती मुख्य पीठ का ही वर्णन गोलोक नामक पीठ में निवास योग्य लीला के द्वारा स्तव करते हुये करते हैं, "चिन्तामणि" श्लोक के द्वारा। आप सब प्रकार से वन नयन चारण गोस्थानानयन सम्भालन प्रकार द्वारा पालन करते हैं, स्नेह पूर्वक रक्षा करते हैं। कभी एकान्त में विलक्षण लीला भी करते हैं, उनको कहते हैं, लक्षलक्ष कल्प वृक्ष के द्वारा समावृत चिन्तामणिमय मन्दिर में अनन्त व्रजसुन्दरीगण के द्वारा ससम्भ्रम से सेवित उन आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ। लक्ष्मी शब्द से यहाँ पर गोपसुन्दरी गण को ही जानना होगा, उस प्रकार ही व्याख्या हुई है।।२९।।

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षम्।
वर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभम्।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३०।।

जो सुमधुरस्वर से वेणु वादन करते हैं, जिनके नयन युगल पद्म पत्र के समान विस्तृत, मस्तक में मयूर पुच्छशोभित चूड़ा नवजलधर सदृश सुन्दर अङ्गकान्ति, कोटि कन्दर्प की रमणीयता तिरस्कारिणी अङ्ग की विशेष शोभा

है, मैं उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।।३०।।

आलोलचन्द्रकलसद्वनमाल्यवंशी-

रत्नाङ्गदं प्रणयकेलिकलाविलासम्।

श्यामं त्रिभङ्गललितं नियतप्रकाशम्।

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३१।।

प्रणय पूर्वक जो केलि-अर्थात् परिहासमयवचन, उसमें जो कला-वैदग्धी, पाण्डित्य, वह ही विलास है जिनका, उनका मैं भजन करता हूँ। अमरकोषकार कहते हैं, द्रव केलिपरिहास। जिनके चूड़ास्थित मयूरपुच्छ मृदुमलयानिल से ईषत् कम्पित हैं, वनमाला, वंशी, रत्नालङ्कारसमूह विशेषरूप से शोभित हैं, जो प्रीति रस परिपूरित परिहास चातुरी प्रकट परायण हैं, श्यामसुन्दर, त्रिभङ्ग ललित, एवं सतत प्रकाशमान हैं, मैं उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ।।३१।।

अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति

पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।

आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३२।।

लीला युगल को कहने के बाद परम अचिन्त्य शक्ति के द्वारा विशेष वैभव का वर्णन करते हैं, उन श्रीविग्रह के अङ्ग समूह इस प्रकार होते हैं। हस्त भी देख सकते हैं। चक्षु भी पालन करने में समर्थ हैं। इस प्रकार अन्य अङ्ग भी अन्यान्य कार्य करने में समर्थ हैं। इसलिए कहा गया है 'सर्वत: पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखमित्यादि'। 'जगन्तीति' शब्द से प्रतीत होता है कि लीला परिकरों में तो उन उन अङ्गों में उन उन कार्य्य को यथावत करते हैं। व्यवहार में वैषम्य नहीं होता है, कारण यह है कि श्रीविग्रह ही विलक्षण है। उनके श्रीविग्रह आनन्द चिन्मय परम उज्ज्वल हैं, प्रकृति गन्ध से अछूता है।

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूप

माद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनञ्च।

वेदेषुदुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३३।।

विलक्षणता को कहते हैं, अद्वैत शब्द से अतुलनीय जानना होगा, पृथ्वी में यह अद्वैत राजा हैं। इस प्रकार बोध होता है। भागवत के तृतीय स्कन्ध में उद्धव के वाक्य से ज्ञात होता है कि आप स्वयं की सुभगता को देखकर स्वयं विस्मित होते थे। अच्युत शब्द का अर्थ है, जिनके भक्तों का पतन महत् प्रलय एवं विपत्ति से नहीं होता है, इसलिए अखिल लोक में एक सर्वत्र अव्यय को अच्युत कहते हैं। अक्रूर ने कहा– कंस ने मुझ पर महान् अनुग्रह किया, जिससे मैं श्रीहरि के चरण दर्शन कर सकूँगा। जिनके अवतार ग्रहण से नख कान्ति से पूर्वज मुनिगण तम को पार कर चुके थे। जिन चरणारविन्दों का अर्चन ब्रह्मा शिव देवगण, लक्ष्मी प्रभृति भी करते रहते हैं। आप्तकाम ब्रह्मादि देवगण, स्वयं लक्ष्मी, योगेश्वरगण, जिन चरणारविन्द की अर्चना करते रहते हैं। गोपियों ने रास गोष्ठी में उन श्रीकृष्ण के उन चरणारविन्दों को वक्षोज के द्वारा परिरम्भण कर ताप शान्त किया था। गोपों को प्रकृत्यतीत निज लोकों का दर्शन उन्होंने करवाया। इसके बाद में नन्दादि गोपगण श्रीकृष्ण के प्रति देवों की अभ्यर्थना को देखकर आनन्दित तथा सुविस्मित भी हुए थे। उन्होंने कहा संशय ग्रन्थि भेदनकारी सांख्य विधि का कथन मैंने किया, प्रतिलोम अनुलोम के द्वारा उसका वर्णन मैंने किया है कारण कार्य को मैं ही जानता हूँ। पुराण पुरुष ब्रह्मा जी ने कहा है, आप ही पुराण पुरुष एक आत्मा हो। माथुर जनों का कथन इस प्रकार है– गूढ़ पुराण पुरुष वनचित्र माल्य तथापि नव यौवन हैं– पुरापि नव पुराण, यह पुराण शब्द का अर्थ है, दशम स्कन्ध में उक्त है– उन्होंने कौन सी तपस्या की? श्रीकृष्ण के रूप का दर्शन इन्होंने किया, वह रूप निरन्तर अभिनव है। नवम स्कन्ध में भी वर्णित है, यस्याननं मकर कुण्डलादि नित्योत्सव रूप में कहा गया है। प्रथम स्कन्ध में सत्य शौच सौभग कान्ति प्रकृति का कथन के बाद समस्त महद् गुणों का आकर रूप में श्रीकृष्ण को कहा है। वृहद्ध्यानादि में भी उस प्रकार वर्णन है, तापनी श्रुति में उक्त हैं, गोपवेश अभ्राभ तरुण कल्पद्रुमाश्रित। उनके ध्यान में तरुण शब्द का नव यौवन अर्थ है। शोभा का आकर कथन में तात्पर्य्य है, वेद में दुर्लभ श्रुतियों के अन्वेषणीय मुकुन्द पदवी को प्राप्त किया। दशम स्कन्ध में उक्त है– अद्यापि जिनकी पदरजः का अन्वेषण करना श्रुतियों का वाक्य ही है।

आत्म भक्त के निकट वह अदुर्लभ है, एकादश स्कन्ध में उक्त है, मैं एकमात्र भक्ति से लभ्य हूँ। दशम स्कन्ध में ब्रह्माजी ने कहा–हे भूमन्! पूर्वकाल में भी भक्ति के द्वारा आपके चरणारविन्दों का लाभ भक्तवृन्दों ने किया है।।३३।।

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्यएव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३७।।

उनकी प्रेयसी वर्ग की जो तन्मयता से जो एकात्मभाव है, उसका कहना ही क्या है? परम श्रीवर्ग के साहित्य से ही श्रीगोविन्द का गोलोक में अवस्थान सम्भव हुआ है, आनन्द शब्द से उसको कहते हैं, अखिल गोलोक वासियों के और अन्य प्रिय वर्गों के आत्मभूत परम प्रेष्ठता हेतु आत्मवत नित्य प्रिय होने पर भी उन सब प्रेयसियों के साथ ही निवास करते हैं। इससे प्रीति में वे सब सर्वाधिक हैं। इसमें हेतु है– ये सब ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति रूपा हैं, इसमें भी वैशिष्ट्य है, आनन्द चिन्मय जो रस, परम प्रेममय उज्ज्वल नामक रस उससे प्रतिभावित हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण ने प्रीति के द्वारा जिन सबको विभोर किया था, उन प्रीति सिक्त हृदय से ही उन सबने प्रीति किया। उन सबके साथ ही आप निवास करते हैं, यह अर्थ प्रति शब्द से प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार "प्रत्युपकृतः सः" कहने से उसने पहले उपकार किया था, पश्चात् उससे उनको उपकार मिला है, अर्थ बोध होता है। उस प्रकार प्रतिभावित शब्द का अर्थ जानना होगा उसमें भी स्वदाररूप से ही व्यवहार करते हैं। किन्तु गोकुल में प्रकट होकर जिस प्रकार परदार रूप से व्यवहार किये थे उस प्रकार नहीं। प्रकट अप्रकट लीला का रहस्य है, पहले आवेश होता है, पीछे आवेश होकर प्रवेश होता है, लोक नयनगोचर होने पर प्रकट कहा जाता है, न दिखाई पड़ने से अप्रकट कहा जाता है। प्रकट अप्रकट लीला का यही रहस्य है।

प्रियावर्ग परम लक्ष्मीगण हैं। उन कृष्ण प्रिया वर्ग का परदारत्व होना सम्भव नहीं है। गोपी एवं गोपी के पतियों के अन्तःस्थल में जो रहते हैं, वही बाहर क्रीड़ा करते हैं दो नहीं हैं, एक कृष्ण ही हैं। उत्कण्ठा को बढ़ाने के लिए यह लीला है। निज पत्नी कौतुक से अवगुण्ठित होकर निज पति को विशेष

उत्कण्ठित करती रहती हैं उस प्रकार वृन्दावनीय प्रकट लीला में उत्कण्ठा वृद्धि के लिए योगमाया से ही उक्त परकीया सम्बन्ध की प्रतीति हुई थी, "य एव" यहाँ एवकार से यह अर्थ आता है कि भौम वृन्दावन में प्रकट काल में परकीय परदार व्यवहार से वे सब रहती हैं। गौतमीय तन्त्र के अप्रकट नित्य लीलात्मक दशाक्षर मन्त्र की व्याख्या में कथित है, अनेक जन्म सिद्ध गोपियों के पति हैं, गोलोक शब्द के बाद 'एव' कार से यह अर्थ आता है कि स्वदारत्व लीला केवल गोलोक में ही है, अन्यत्र गोकुल वृन्दावन में नहीं है। गोलोक गोकुल का ऐश्वर्य्य प्रधान स्थान है। गोलोक में जन्मादि लीला नहीं होती है। उस प्रकार आवेश-प्रवेश के रीति से प्रेयसी वर्ग के साथ गोलोक में निवास करते हैं, उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।

माया हि यस्य जगदण्डशतानि सूते
त्रैगुण्यतद्विषयवेदवितायमाना।
सत्त्वावलम्बिपरसत्त्वविशुद्धसत्त्वम्।
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।।४१।।

श्री गोविन्द का स्वरूपानुबन्धि विशुद्ध सत्त्व के माहात्म्य को दिखाकर जगद्गत माहात्म्य को कहकर ब्रह्मा स्तव करते हैं।

बहिरङ्ग शक्ति माया के अचिन्त्य कार्य्य को कहते हैं। जिनकी माया शक्ति के साथ श्री गोविन्द का स्पर्श नहीं है। आप विशुद्ध सत्त्व में विराजित हैं। विशुद्ध सत्त्व को समझाते हैं, सत्त्व, रज, तमात्मिका माया, गुणत्रय अन्योन्य मिलित रहते हैं। रजः तमोगुण से असंयुक्त सत्त्व को शुद्ध सत्त्व कहते हैं। उससे भी विशुद्ध सत्त्व को चिच्छक्ति कहते हैं, वह सत्त्व मायिक सत्त्व नहीं है, किन्तु चिच्छक्ति वृत्ति रूप विशुद्ध सत्त्व है। उन विशुद्ध सत्त्व रूप श्रीहरि की मूर्त्ति है। उन श्री गोविन्द का मैं भजन करता हूँ। श्री विष्णु पुराण में उक्त है– भगवान् में प्राकृत सत्त्व रजः तमः सत्त्व गुण नहीं है, वह समस्त शुद्ध गुणों से शुद्ध हैं, वह आद्य पुरुष प्रसन्न हों, सर्वाश्रय आप में ही ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित शक्ति हैं, जीव में वह शक्ति नहीं है, प्राकृत ह्लाद, रजः तमः मिलित गुण ईश्वर में नहीं हैं। किन्तु जीव में हैं। इसका विशेष विवेचन श्रीभागवत सन्दर्भ में है। अतः जिनकी बहिरङ्गा त्रिगुणात्मिका माया शतशत ब्रह्माण्ड की रचना करती

है, जिसका वर्णन त्रैगुण्य विषयक वेद में सुविस्तृत है। किन्तु माया के साथ श्रीहरि के स्वरूप का संस्पर्श नहीं है, उनका स्वरूप सत्त्व रजः तमः शून्य विशुद्ध चिच्छक्तिमय है, उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन मैं करता हूँ।

आनन्दचिन्मयरसात्मतयामनःसु
यः प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरतामुपेत्य
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्रम्
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।।

अनन्तर उज्ज्वल प्रेममय मोहनता को कहते हैं– आनन्द चिन्मय रसात्म रूप में प्राणि निवह के मन में प्रतिफलित होकर त्रिभुवन को वशीभूत करते रहते हैं। अर्थात् जो उज्ज्वलमय प्रेम रस से विभावित हैं, एवं उस परम मोहन स्वरूप के किंचित् अंश से प्राणि समूह के अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर, अर्थात् प्रतिविम्ब 'छाया' आभास के द्वारा कन्दर्प स्वरूप को प्रकट कर लीला से निरन्तर त्रिभुवन की जय करते रहते हैं, उससे जिनकी साक्षात मन्मथ मन्मथ रूप में श्रीमद् भागवत के रास पञ्चाध्याय में उल्लेख किया गया है। यहाँ पर जानने का विषय यह है कि जिस प्रकार भगवान से जगत् उत्पन्न होने पर भी उस जगत् के विषय में भोक्ता भोग्य रूप में आवेश भगवत भजन में विघ्न स्वरूप है, उस प्रकार कन्दर्प, भगवान् के अंश प्रतिफलित स्वरूप होने पर भी उसका आवेश अत्यन्त दोषावह है, उन आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

आनन्द चिन्मय रस शब्द से उज्ज्वलाख्य प्रेम रस को जानना होगा। उसका ही प्रतिशब्द है तदात्मतया, उससे आलिङ्गित होकर प्राणियों के मन समूह में अन्तःकरण को सङ्कल्प विकल्पात्मक वृत्ति में प्रतिफलन–प्रतिविम्बित होकर, अर्थात् सर्वमोहनतास्वांश समग्र पदार्थ मोहनकारी चिन्मय प्रेम रस का अंश स्फुरित परमाणु प्रतिविम्ब रूप से किञ्चित् उदय होने पर भी स्वल्प आभासमात्र उदित होकर भी 'स्मरतामुपेत्य' इस प्रकार योजना करनी चाहिये। प्राकृत व्यवाय रूप काम धर्म को प्राप्त कराकर सबको वशीभूत करते रहते हैं। अतः रास पञ्चाध्याय में श्रीकृष्ण को साक्षात् मन्मथ मन्मथ–कन्दर्प दर्प दमन रूप से

कहा गया है। जिस प्रकार चक्षुषश्चक्षुः शब्द से निखिल नेत्रों के एकमात्र नेत्र का बोध होता है, उस प्रकार जानना होगा। अतएव जागतिक कामरूप स्मर का कारण ईश्वर होने पर भी स्मर का आवेश सर्वथा दुष्ट है, "जगदावेशवत्" जगत् ईश्वर का अंश होने पर शक्ति रूप अंश होने पर भी जगत् के किसी पदार्थ में भोक्ता भोग्य रूप में आवेश होना सर्वथा दोषावह है, उस प्रकार जानना होगा।

रस समूह को रास कहते हैं, भक्ति रसामृत सिन्धु के (५।२ पश्चिम) में उक्त है–

"निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरुहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते।।

विरक्त व्यक्तियों के उपयोगी न होने से, दुरूह होने से तथा रहस्यमय होने के कारण विस्तृत अङ्गों वाला होते हुए भी मधुर भक्तिरस का यहाँ पर संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

मार्ग दो प्रकार हैं, प्रवृत्ति मार्ग एवं निवृत्ति मार्ग। अन्नमय मन के द्वारा प्रवृत्ति मार्ग चलता है, निवृत्ति मार्ग विशुद्ध सत्त्व प्रधान मन से निर्वाह होता है, "घनपरमानन्द का प्रकाश समुज्ज्वल रस है, प्रवृत्ति मार्ग के साजात्य वर्णन होने के कारण भगवद् भक्ति रस निवृत्ति मार्ग के लिए उपयोगी नहीं है। पुरुष विकार युक्त इन्द्रिय के द्वारा एकांश में एवं अनेकांश में रहः लीला का स्मरण नहीं करना चाहिये, पूर्व संस्कार उद्बुद्ध होने के कारण स्वयं का आस्वादन होगा।

दूसरे के सुख में सुखी, दूसरे के दुःख में दुःखी, एवं निज सुख में सुखी न होना, एवं निज दुःख में दुःखी न होना, भगवदाराधना में लीन रहना ही इस भगवद् भक्ति रस आस्वादन की योग्यता है, त्याग, समर्पण सेवा को भक्ति कहते हैं।

"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः
एषा कृष्णा रतिः स्थायी भावो भक्ति रसो भवेत्।।

रस का निमित्त कारण विभाव है, समवायि-स्थायि भाव है,

असमवायि-सञ्चारि भाव है। कार्यरूप में अनुभाव एवं सात्त्विकादि का ग्रहण होता है। सारार्थ यह है कि—सामाजिक के चित्तगत स्थायिभाव काव्यगत विभावानुभाव सात्त्विक व्यभिचारि भाव के सहित मिलित होकर रस होता है। अर्थात् आस्वादन अवस्था को प्राप्त करता है।

भाग्यवान् जन ही भक्ति रसास्वादन का अधिकारी है। अधिकारी का निर्णय इस प्रकार हुआ है—

"प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्ति वासना।
एष भक्ति रसास्वाद तस्यैव हृदि जायते।।

जिनके भीतर उत्तमाभक्ति के लिए पूर्वजन्म की तथा आधुनिक जन्म की वासना विद्यमान होती है, उसके हृदय में ही भक्तिरस का आस्वादन हो सकता है।

रस—ब्रह्मवत् अवाङ् मनसे अगोचर होने पर भी भाग्यवान् द्रष्टा श्रोता रसास्वादन करने में सक्षम होते हैं। दृश्य काव्य में द्रष्टा, श्रव्य काव्य में श्रोता को सामाजिक कहते हैं। दृश्य काव्य में अनुकार्य्याभिनय दर्शक का, श्रव्य काव्य में वर्णनीय नायक का, वर्णनकारी को श्रोता का रसास्वाद होता है। यह मत अनेक आलङ्कारिकों का सम्मत है, "तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्" साहित्यदर्पणकार ने कहा है। (३)

भक्ति रसामृत सिन्धु ग्रन्थ का 'रस लक्षण' इस प्रकार है। रस का निमित्त कारण विभाव है, समवायि-स्थायि भाव है, असमवायि-सञ्चारि भाव है। कार्यरूप में अनुभाव एवं सात्त्विकादि का ग्रहण होता है। सारार्थ यह है कि—सामाजिक के चित्तगत स्थायिभाव काव्यगत विभावानुभाव सात्त्विक व्यभिचारि भाव के सहित मिलित होकर रस होता है। अर्थात् आस्वादन अवस्था को प्राप्त करता है।

"व्यतीत्य भावना वर्त्म यश्चमत्कारि सार भूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसोमतः।।"

भावना का पथ अतिक्रमण करके सत्त्व द्वारा उज्ज्वल चित्त में प्रगाढ़ चमत्कारी आनन्द की आस्वादनीयता प्राप्त करता है, वह रस है।

अलङ्कार कौस्तुभ में भी उक्त है—

बहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तररोधकम्।

स्व-कारणादि-संश्लेषिचमत्कारि सुखं रसः।।

बहिरिन्द्रिय एवं अन्तरिन्द्रिय के सम्बन्ध में व्यापारान्तर का रोधक, अथच स्व-कारणीभूत विभावादि के सहित सम्मिलित चमत्कारजनक जो सुख, उसको रस कहते हैं।

प्राकृत एवं अप्राकृत भेद से रस शास्त्र दो प्रकार हैं, भक्ति वादियों के मत में प्राकृत नायक प्रभृति का रसास्वाद नहीं होता है, किन्तु श्रीराम सीतादि-वत् दिव्य नायक नायिका का रसास्वाद होता है। अतएव भगवद् विषयक काव्य शास्त्र विनोद के बिना सामाजिक का रसास्वाद नहीं होता है। जब अनुकार्य्य का रसास्वादन नहीं होता है, तब तो सामाजिक का रसास्वादन होना भी सम्भव नहीं है।

प्राकृत अनुकार्य्यादि का रसास्वादन असिद्ध होने से लौकिक काव्य नाट्य की आलोचना से सामाजिक का भी रसास्वादन नहीं होगा। साधारण रसवेत्ता के मत में पारिमित्याल्लौकिकत्वात् सान्तरायत्वाच्च (साहित्य दर्पण ३) अनुकार्य्य में रसास्वादन असिद्ध होने पर भी महाकवि के लेखनी नैपुण्य से काव्य नाट्यादि से रसास्वाद होना सम्भव है। इससे सत् सामाजिक का भी रसास्वादन होता है।

भक्तिरसामृत सिन्धु के रस लक्षण में—

"हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढ़ं स्वदते स रसो मतः" यहाँ सत्त्व शब्द का उल्लेख हुआ है। साधारणतः प्रतीति के लिए साहित्य दर्पणोक्त विश्लेषण से ही उसका अर्थ जानना होगा। भक्ति स्वरूप को अप्राकृत चिदानन्द रूप माना गया है।

भाव—प्रायशः रस भाव का साम्य होने पर भी उभय में किञ्चित् तारतम्य विद्यमान है। रसामृत के (२।५।१०५) में भाव का लक्षण इस प्रकार है—

भावनायाः पदं यस्तु बुधेनान्यबुद्धिना।

भाव्यते गाढ़संस्कारैश्चित्ते भावः स कथ्यते।।"

और अन्य बुद्धि से भावना की वस्तु का गाढ़ संस्कारों द्वारा जो मन में चिन्तन किया जाता है, उसको भाव कहते हैं।

भरत ने भी कहा है—देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वात् भाषाः समुत्थिताः। रसानुभवोपयोगिजन्मान्तरीय संस्कारादिकं सूक्ष्म भावेन शिशुवायां स्थितमपि

तद् विकाशाय सामाजिकस्य (अनुकार्य्यस्यापि) वयः सन्धि प्रभृति वयोवस्थिविशेषमपेक्षते।।

"रस तरङ्गिणी" ग्रन्थ में भानुदत्त ने भी कहा है- "चित्तस्य रसानुकूलो विकारोऽवस्याविशेषः वा भावः।" विकारोऽयं द्विविधः आन्तरशरीरश्च। स्थायी सञ्चारी यः भावः आन्तरः, तथा अनुभावः, उद्भास्वर-(नृत्यगीतादिकं) सात्त्विक भावश्च शारीरी विकारः। स्थायिभावो हि मुख्यतया पञ्चविधो गौणतश्च सप्त एव। संचारिणा स्त्रयस्त्रिंशत् सात्त्विकाश्चाष्ट। सामाजिकस्य (अनुकार्य्यस्यापि) चित्ते स्थायिभावस्य परिपुष्टतानुयायि खलु अनुभाव सञ्चारि भावयोस्तरंग प्राबल्यास्थापि न्यूनाधिक्यं जायते।।

अलङ्कार कौस्तुभ (५) में स्थायी भाव का वर्णन है-

"आस्वादङ्कुर कन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।
रजस्तमौभ्यां हीनस्य शुद्ध सत्त्वतया मतः।।
स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया।
पृथक् विधत्वं चात्येष सामाजिकतया सताम्।।

सामाजिकतया सतां सामाजिकानामेक एवं कश्चिदास्वादाङ्कुर कन्दो मनसः कोऽपि धर्मविशेषः स्थायी। स तु विभावस्योक्त प्रकार द्विविधस्य भेदैरिव भिद्यते। अनुकार्य्याणान्तु स्वतन्त्रा एव स्थायिनो नानाविधाः।

पूर्वोक्त द्वादश प्रकार भाव निज-निज अनुकूल उपकरणों के साथ मिलित होकर परम आस्वादन अवस्था को प्राप्त करते हैं। अनवच्छिन्नसुस्थिर रूप से हृदय में अवस्थित होकर स्थायीभाव कहलाते हैं। उक्त द्वादश विधता को छोड़कर अन्य कोई स्थायी भाव नाम से परिचित नहीं होते हैं। उसके मध्य में कुछ भाव सञ्चारी होते हैं। जिस प्रकार मधुर में हासादि। साहित्यदर्पणकार के मत में (साहित्यदर्पण ३) "रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः" प्रबलमभिव्यक्तः सञ्चारी, सामान्यतया व्यक्तः स्थायी। तथा देवादि विषयारतिश्चापाततो भाव इति कथ्यते।

घन परमानन्द का प्रकाश समुज्ज्वल ही रस है। जो आस्वादन का विषय है-वह रस है, जिसके द्वारा आस्वादन होता है, वह भी रस है। "रसो वै सः" के अनुसार श्रीकृष्ण अखिल रसामृत मूर्त्ति हैं। रसास्वादन हेतु परिकर प्रभृति स्वयं ही

होते हैं। मानव के नयनगोचरीभूत जब होते हैं, तब प्रकट लीला कही जाती है, जब नयनगोचरी भूत नहीं होते हैं तब अप्रकट लीला कहते हैं, इसको नित्य लीला कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण होकर तीन लीलाएं करते हैं– व्रज में आध्यात्मिक लीला, मथुरा में व्यवहारिक लीला एवं द्वारका में लौकिक लीला।

स्वाभाविक असमौर्द्ध आसक्ति को ही निवृत्ति मार्ग या आध्यात्मिक मार्ग कहते हैं। जिसका प्रदर्शन व्रज में किया गया है–

"न लोक वेद व्यवहार मात्रं, न देह गेह द्रविणात्मजादि।
यत्राविदंस्ता न पथोऽपथो वा स कोऽपि जीयादिह कृष्णभावः॥"
"यद्धामार्थ सुहृत् प्रियात्मतनय प्राणाशयास्ततकृते।।"

इसका प्रदर्शन रास लीला में हुआ है। यह रासलीला निवृत्ति पर है। "प्रवृत्ति" स्वाभाविक है, उसके लिए शास्त्र की आवश्यकता है ही नहीं।

समस्त विद्या एवं समस्त कलाओं के द्वारा एकता अनुकूलता रूप आध्यात्मिकता का आस्वादन होता है। अतएव रास के आस्वादन के लिए ये सब अङ्ग आचरणीय है, जिससे एकता अनुकूलता की सम्पुष्टि होती है।

सगणोऽरण्यविहृतिश्चक्रभ्रमणनर्त्तनम्
हल्लीसकं युग्मनृत्यं ताण्डवं लास्यमेककम्।
तत्तत् प्रबन्धगानञ्च सनृत्यं रतिनर्म्मणी
जलखेलेत्यमून्येष रासाङ्गानि व्यधात् क्रमात्।।

रासलीला के अङ्गों का वर्णन इस प्रकार है। श्रीकृष्ण ने, रासलीला में क्या क्या विषय होंगे, उनका व्याख्यान क्रम से किये। समस्त गण सहित वन-विहार, चक्र भ्रमण के साथ नृत्य, हल्लीसक नृत्य, स्त्रियों का मण्डल नृत्य, युग्म नृत्य (स्त्री पुरुष की जोड़ी का नृत्य, ताण्डव 'पुरुष नृत्य' लास्य (स्त्री नृत्य) एकाकी नृत्य, सखियों के रचित् प्रबन्ध गान, नृत्य रति, परिहास व जलकेलि इत्यादि रास के अनेक अङ्गों का विधान किया।

एकता अनुकूलता का वर्णन करते हैं–

निशम्य गीतं तदनङ्ग वर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः

स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डला:।।

भगवान् का वह वंशीवादन भगवान् के एकता अनुकूलता रूप प्रेम को, उनके मिलन की लालसा को अत्यन्त उकसाने वाला-बढ़ाने वाला था। यों तो श्यामसुन्दर ने पहले से ही गोपियों के मन को अपने वश में कर रखा था। अब तो उनके मन की सारी वस्तुएें भय, सङ्कोच, धैर्य्य, मर्य्यादा आदि की वृत्तियाँ भी छीन लीं। वंशी ध्वनि सुनते ही उनकी विचित्र गति हो गयी। वे गोपियाँ भी एक दूसरे को सूचना न देकर— यहाँ तक कि एक दूसरे से अपनी चेष्टा को छिपाकर जहाँ वे थे, वहाँ के लिए चल पड़ीं। वे इतने वेग से चली थीं कि उनके कानों के कुण्डल झोंके खाकर पथ दिखाने लगे थे।

तावार्य्यमाणा: पतिभि: पितृभिर्भ्रातृबन्धुभि:।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिता:॥"

पिता और पतियों ने, भाई और जाति बन्धुओं ने उन्हें रोका, उनके एकता अनुकूलता रूप मङ्गलमयी प्रेम यात्रा में विघ्न डाला। परन्तु वे इतनी मोहित हो गयी थीं कि रोकने पर भी न रुकीं, न रुक सकीं। रुकती कैसे? विश्व विमोहन श्रीकृष्ण ने उनके मन, प्राण और आत्मा सब कुछ का अपहरण जो कर लिया था।

रास के बाद श्रीमद् भागवत के ३३ अध्याय के ३९ में उक्त है—

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिता:।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्य: स्व गृहान् भगवत् प्रिया:।।१०।३३।३९

ब्रह्मा की रात्रि के बराबर वह रात्रि बीत गयी। ब्रह्म मुहूर्त्त आया, यद्यपि गोपियों की इच्छा अपने घर लौटने की नहीं थी, फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा से वे अपने-अपने घर चली गयीं। क्योंकि वे अपनी प्रत्येक चेष्टा से, प्रत्येक सङ्कल्प से केवल भगवान् श्रीकृण को ही प्रसन्न करना चाहती थीं।

फल श्रुति में भागवतम् के १०।३३।४० में कहा गया है—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णो:
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् य:।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामम्।
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीर:॥

जो धीर व्यक्ति व्रजवधुओं के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के इस चिन्मय रास विलास का श्रद्धा के साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे

भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में पराभक्ति की प्राप्ति होती है। और वह बहुत ही शीघ्र हृदय के रोग काम विकार से छुटकारा पा जाता है। उसका काम भाव सदा के लिए विनष्ट हो जाता है।

व्रज में भगवान् श्रीकृष्ण की स्थिति ११ वर्ष ३ मास रही, सात वर्ष में गोवर्द्धन धारण एवं ९ वर्ष में रासलीला का अनुष्ठान हुआ था।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता॥
श्रीमद्भागवतं प्रणाममलं प्रेमापुमर्थो महान्।
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

श्रीचैतन्य महाप्रभु के मत में श्रीमद्भागवतम् विशुद्ध प्रमाण है, प्रेम ही परम प्रयोजन है। व्रजेन्द्रसुत ही आराध्य भगवान् हैं, उनका धाम वृन्दावन है। व्रजवधुओं के द्वारा की जाने वाली रम्या काचिदुपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है।

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा-
त्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥

श्रीराधा प्रेम की महिमा कितनी है? प्रेम दृष्टि से श्रीकृष्ण के माधुर्य की चमत्कारिता कितनी है? एवं उस चमत्कारिता का अनुभव करके श्रीराधा कितनी सुखी होती हैं? इसको जानने के लिये चन्द्र जिस प्रकार समुद्र से उदित हुआ है उसी प्रकार श्रीराधा भाव कान्ति मण्डित श्रीकृष्ण गौरचन्द्र के रूप में शचीगर्भ सिन्धु से आविर्भूत हुए हैं।

हरिदास शास्त्री

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

रासलीला का आरम्भ

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! शरद् ऋतु थी। उसके कारण बेला, चमेली आदि सुगन्धित पुष्प खिलकर महँ-महँ महँक रहे थे। भगवान् ने चीरहरण के समय गोपियों को जिन रात्रियों का सङ्केत किया था, वे सब-की-सब पुञ्जीभूत होकर एक ही रात्रि के रूप में उल्लसित हो रही थीं। भगवान् ने उन्हें देखा, देखकर दिव्य बनाया। गोपियाँ तो चाहती ही थीं। अब भगवान् ने भी अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमाया के सहारे उन्हें निमित्त बनाकर रसमयी रासक्रीडा करने का सङ्कल्प किया। उन्होंने अपने प्रेमियों की इच्छा पूर्ण करने के लिये मन को स्वीकार किया॥१॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥ २॥

भगवान् के सङ्कल्प करते ही चन्द्रदेव ने पूर्व दिशा के मुखमण्डल पर अपने शीतल किरण रूपी करकमलों से लालिमा की रोली-केशर मल दी, जैसे बहुत दिनों के बाद अपनी प्राणप्रिया पत्नी के पास आकर उसके प्रियतम पति ने उसे आनन्दित करने के लिये ऐसा किया हो, इस प्रकार चन्द्रदेव ने उदय होकर न केवल पूर्व दिशा का, प्रत्युत संसार के समस्त चर-अचर प्राणियों का सन्ताप, जो दिन में शरत्कालीन प्रखर सूर्य किरणों के कारण बढ़ गया था, दूर कर दिया॥२॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥ ३ ॥

उस दिन चन्द्रदेव का मण्डल अखण्ड था। पूर्णिमा की रात्रि थी। वे नूतन केशर के समान लाल-लाल हो रहे थे, कुछ सङ्कोचमिश्रित अभिलाषा से युक्त जान पड़ते थे। उनका मुखमण्डल लक्ष्मीजी के समान बोध हो रहा था। उनकी कोमल किरणों से सारा वन अनुराग के रंग में रंग गया था। वन के कोने-कोने में उन्होंने अपनी चाँदनी के द्वारा अमृत का समुद्र उड़ेल दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य उज्ज्वल रस के उद्दीपन की पूरी सामग्री उन्हें और उस वन को देखकर अपनी बाँसुरी पर व्रज सुन्दरियों के मन को हरण करने वाली कामबीज -'क्लीं' की अस्पष्ट एवं मधुर तान छेड़ी ॥३ ॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥ ४॥

भगवान् का वह वंशीवादन भगवान् के प्रेम को, उनके मिलन की लालसा को अत्यन्त उकसाने वाला—बढ़ाने वाला था। यों तो श्यामसुन्दर ने पहले से ही गोपियों के मन को अपने वश में कर रक्खा था। अब तो उनके मन की सारी वस्तुएँ—भय, सङ्कोच, धैर्य, मर्यादा आदि की वृत्तियाँ भी—छीन लीं। वंशीध्वनि सुनते ही उनकी विचित्र गति हो गयी। जिन्होंने एक साथ साधना की थी श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त करने के लिये, वे गोपियाँ भी एक-दूसरे को सूचना न देकर—यहाँ तक कि एक दूसरे से अपनी चेष्टा को छिपाकर जहाँ वे थे, वहाँ के लिये चल पड़ीं। परीक्षित्! वे इतने वेग से चली थीं कि उनके कानों के कुण्डल झोंके खा रहे थे ॥४ ॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥ ५॥

वंशीध्वनि सुनकर जो गोपियाँ दूध दुह रही थीं, वे अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर चल पड़ीं। जो चूल्हे पर दूध औंटा रही थीं, वे उफनता हुआ दूध छोड़कर, और जो लपसी पका रही थीं, वे पकी हुई लपसी बिना उतारे ही ज्यों-की-त्यों छोड़कर चल दीं ॥५ ॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥ ६॥

जो भोजन परोस रही थीं वे परोसना छोड़कर, जो छोटे-छोटे बच्चों को दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़कर, जो पतियों की सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर अपने प्यारे कृष्ण के पास चल पड़ीं ॥६॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥ ७॥

कोई-कोई गोपी अपने शरीर में अङ्गराग चन्दन और उबटन लगा रही थीं। वे उन्हें छोड़कर तथा उलटे-पलटे वस्त्र धारण कर श्रीकृष्ण के पास पहुँचने के लिये चल पड़ीं ॥७॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥ ८॥

पिता और पतियों ने, भाई और जाति-बन्धुओं ने उन्हें रोका, उनकी मङ्गलमयी प्रेमयात्रा में विघ्न डाला। परन्तु वे इतनी मोहित हो गयी थीं कि रोकने पर भी न रुकीं, न रुक सकीं। रुकतीं कैसे? विश्वविमोहन श्रीकृष्ण ने उनके प्राण, मन और आत्मा सब कुछ का अपहरण जो कर लिया था ॥८॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥ ९॥

उस समय कुछ गोपियाँ घरों के भीतर थीं। उन्हें बाहर निकलने का मार्ग ही न मिला। तब उन्होंने अपने नेत्र मूँद लिये और बड़ी तन्मयता से श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, माधुर्य और लीलाओं का ध्यान करने लगीं ॥९॥

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥ १०॥

परीक्षित्! अपने परम प्रियतम श्रीकृष्ण के असह्य विरह की तीव्र वेदना से उनके हृदय में इतनी व्यथा—इतनी जलन हुई कि उनमें जो कुछ अशुभ संस्कारों का लेशमात्र अवशेष था, वह भस्म हो गया। इसके बाद तुरन्त ही ध्यान लग गया। ध्यान में उनके सामने भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए। उन्होंने मन-ही-मन बड़े प्रेम से, बड़े आवेग से उनका आलिङ्गन किया। उस समय उन्हें इतना सुख, इतनी शान्ति मिली कि उनके सब-के-सब पुण्य के

संस्कार एक साथ ही क्षीण हो गये ॥१०॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥ ११॥

यद्यपि उनका उस समय श्रीकृष्ण के प्रति जारभाव उपपति भाव था; तथापि कहीं सत्य वस्तु भाव की अपेक्षा रखती है? उन्होंने जिनका आलिङ्गन किया, चाहे किसी भी भाव से किया हो, वे स्वयं परमात्मा ही तो थे। इसलिये उन्होंने पाप और पुण्यरूप कर्म के परिणाम से बने हुए गुणमय शरीर का परित्याग कर दिया। (भगवान् की लीला में सम्मिलित होने के योग्य दिव्य अप्राकृत शरीर प्राप्त कर लिया।) इस शरीर से भोगे जाने वाले कर्मबन्धन तो ध्यान के समय ही छिन्न-भिन्न हो चुके थे। यहाँ पर शरीर त्याग शब्द से भाव त्याग समझना होगा ॥११॥

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥ १२॥

राजा परीक्षित् ने पूछा—भगवन्! गोपियाँ तो भगवान् श्रीकृष्ण को केवल अपना परम प्रियतम ही मानती थीं। उनका उनमें ब्रह्मभाव नहीं था। इस प्रकार उनकी दृष्टि प्राकृत गुणों में ही आसक्त दीखती है। ऐसी स्थिति में उनके लिये गुणों के प्रवाहरूप इस संसार की निवृत्ति कैसे सम्भव हुई? ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥ १३॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा—परीक्षित्! मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि चेदिराज शिशुपाल भगवान् के प्रति द्वेषभाव रखने पर भी अपने प्राकृत शरीर को छोड़कर अप्राकृत शरीर से उनका पार्षद हो गया। ऐसी स्थिति में जो समस्त प्रकृति और उसके गुणों से अतीत भगवान् श्रीकृष्ण की प्यारी हैं और उनसे अनन्य प्रेम करती हैं, वे गोपियाँ उन्हें प्राप्त हो जायँ—इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है ॥१३॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १४॥

राजन्! वास्तव में भगवान् प्रकृति सम्बन्धी वृद्धि-विनाश, प्रमाण-प्रमेय, और गुणगुणी भाव से रहित हैं। वे अचिन्त्य-अनन्त अप्राकृत परम कल्याण स्वरूप गुणों के एकमात्र आश्रय हैं। उन्होंने यह जो अपने को तथा अपनी लीला को प्रकट किया है, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि जीव उसके सहारे अपना परम कल्याण प्राप्त करे॥१४॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ १५॥

इसलिये भगवान् से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिये। वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो—काम का हो, क्रोध का हो या भय का हो; स्नेह, नातेदारी या सौहार्द का हो। चाहे जिस भाव से भगवान् में नित्य-निरन्तर अपनी वृत्तियाँ जोड़ दी जायँ, वे भगवान् से ही जुड़ती हैं। इसलिये वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं, और उस जीव को भगवान् की ही प्राप्ति होती है॥१५॥

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥ १६॥

परीक्षित्! तुम्हारे-जैसे परम भागवत, भगवान् का रहस्य जानने वाले भक्त को श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये। योगेश्वरों के भी ईश्वर अजन्मा भगवान् के लिये भी यह कोई आश्चर्य की बात है? अरे! उनके सङ्कल्प मात्र से—भौंहों के इशारे से सारे जगत् का परम कल्याण हो सकता है॥१६॥

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥ १७॥

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि व्रज की अनुपम विभूतियाँ गोपियाँ मेरे बिल्कुल पास आ गयी हैं, तब उन्होंने अपनी विनोदभरी वाक्चातुरी से उन्हें मोहित करते हुए कहा। क्यों न हो—भूत, भविष्य और वर्तमानकाल के जितने वक्ता हैं, उनमें वे ही तो सर्वश्रेष्ठ हैं॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।

व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा- महाभाग्यवती गोपियों! तुम्हारा स्वागत है। कहो, तुम्हें प्रसन्न करने के लिये मैं कौन-सा काम करूँ? व्रज में तो सब कुशल-मङ्गल हैं न? कहो, इस समय यहाँ आने की क्या आवश्यकता पड़ गयी? ॥१८॥

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।

प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥ १९॥

सुन्दरी गोपियों! रात का समय है, यह स्वयं ही बड़ा भयावना होता है और इसमें बड़े-बड़े भयानक जीव-जन्तु इधर-उधर घूमते रहते हैं। अतः तुम सब तुरन्त व्रज में लौट जाओ। रात के समय घोर जंगल में स्त्रियों को नहीं रुकना चाहिये॥१९॥

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।

विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥२०॥

तुम्हें न देखकर तुम्हारे माँ-बाप, पति-पुत्र और भाई-बन्धु ढूँढ़ रहे होंगे। उन्हें भय में न डालो॥२०॥

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।

यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥ २१॥

तुम लोगों ने रंग-बिरंगे पुष्पों से लदे हुए इस वन की शोभा को देखा। पूर्ण चन्द्रमा की कोमल रश्मियों से यह रँगा हुआ है, मानो उन्होंने अपने हाथों चित्रकारी की हो; और यमुनाजी के जल का स्पर्श करके बहने वाले शीतल समीर की मन्द-मन्द गति से हिलते हुए ये वृक्षों के पत्ते तो इस वन की शोभा को और भी बढ़ा रहे हैं। परन्तु अब तो तुम लोगों ने यह सब कुछ देख लिया॥२१॥

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।

क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥ २२॥

अब देर मत करो, शीघ्र-से-शीघ्र व्रज में लौट जाओ। तुम लोग

कुलीन स्त्री हो और स्वयं भी सती हो; जाओ, अपने पतियों की और सतियों की सेवा-शुश्रूषा करो। देखो, तुम्हारे घर के नन्हे-नन्हे बच्चे और गौओं के बछड़े रो-रँभा रहे हैं; उन्हें दूध पिलाओ, गौएँ दुहो ॥२२॥

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥ २३॥

अथवा यदि मेरे प्रेम से परवश होकर तुम लोग यहाँ आयी हो तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई, यह तो तुम्हारे योग्य ही है। क्योंकि जगत् के पशु-पक्षी तक मुझसे प्रेम करते हैं, मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं ॥२३॥

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥ २४॥

कल्याणी गोपियो! स्त्रियों का परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओं की निष्कपट भाव से सेवा करें और सन्तान का पालन-पोषण करें ॥२४॥

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥ २५॥

जिन स्त्रियों को उत्तम लोक प्राप्त करने की अभिलाषा हो, वे पातकी को छोड़कर और किसी भी प्रकार के पति का परित्याग न करें। भले ही वह बुरे स्वभाव वाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो ॥२५॥

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियः॥ २६॥

कुलीन स्त्रियों के लिये जार पुरुष की सेवा सब तरह से निन्दनीय ही है। इससे उसका परलोक बिगड़ता है, स्वर्ग नहीं मिलता, इस लोक में अपयश होता है। यह कुकर्म स्वयं तो अत्यन्त तुच्छ, क्षणिक है ही; इसमें प्रत्यक्ष—वर्तमान में भी कष्ट-ही-कष्ट है। मोक्ष आदि की तो बात ही कौन करे, यह साक्षात् परम भय—नरक आदि का हेतु है ॥२६॥

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥ २७॥

मेरी लीला और गुणों के श्रवण से, रूप के दर्शन से, उन सबके

कीर्तन और ध्यान से मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति पास रहने से नहीं होती। इसलिये तुम लोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्॥ २८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण का यह अप्रिय भाषण सुनकर गोपियाँ उदास, खिन्न हो गयीं। उनकी आशा टूट गयी। वे चिन्ता के अथाह एवं अपार समुद्र में डूबने-उतराने लगीं ॥२८॥

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्॥ २९॥

उनके बिम्बाफल के समान लाल-लाल अधर शोक के कारण चलने वाली लम्बी और गरम साँस से सूख गये। उन्होंने अपने मुँह नीचे की ओर लटका लिये, वे पैर के नखों से धरती कुरेदने लगीं। नेत्रों से दुःख के आँसू बह-बहकर काजल के साथ वक्षःस्थल पर पहुँचने और वहाँ लगी हुई केशर को धोने लगे। उनका हृदय दुःख से इतना भर गया कि वे कुछ बोल न सकीं, चुपचाप खड़ी रह गयीं ॥२९॥

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः॥ ३०॥

गोपियों ने अपने प्यारे श्यामसुन्दर के लिये सारी कामनाएँ, सारे भोग छोड़ दिये थे। श्रीकृष्ण में उनका अनन्य अनुराग, परम प्रेम था। जब उन्होंने अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की यह निष्ठुरता से भरी बात सुनी, जो बड़ी ही अप्रिय-सी मालूम हो रही थी, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। आँखें रोते-रोते लाल हो गयीं, आँसुओं के मारे रुँध गयीं। उन्होंने धीरज धारण करके अपनी आँखों

के आँसू पोंछे और फिर प्रणयकोप के कारण वे गद्‌गद वाणी से कहने लगीं ॥३०॥

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥ ३१ ॥

गोपियों ने कहा—प्यारे श्रीकृष्ण! तुम घट-घट व्यापी हो। हमारे हृदय की बात जानते हो। तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरता भरे वचन नहीं कहने चाहिये। हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणों में ही प्रेम करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तुम स्वतन्त्र और हठीले हो। तुम पर हमारा कोई वश नहीं है। फिर भी तुम अपनी ओर से, जैसे आदि पुरुष भगवान् नारायण कृपा करके अपने मुमुक्षु भक्तों से प्रेम करते हैं, वैसे ही हमें स्वीकार कर लो। हमारा त्याग मत करो॥३१॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥ ३२ ॥

प्यारे श्यामसुन्दर! तुम सब धर्मों का रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र और भाई-बन्धुओं की सेवा करना ही स्त्रियों का स्वधर्म है'—अक्षरशः ठीक है। परन्तु इस उपदेश के अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये; क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशों के पद (चरम लक्ष्य) हो; साक्षात् भगवान् हो। तुम्हीं समस्त शरीरधारियों के सुहृद् हो, आत्मा हो और परम प्रियतम हो॥३२॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥ ३३ ॥

आत्मज्ञान में निपुण महापुरुष तुमसे ही प्रेम करते हैं; क्योंकि तुम नित्य प्रिय एवं अपने ही आत्मा हो। अनित्य एवं दुःखद पति-पुत्रादि से क्या प्रयोजन है? परमेश्वर! इसलिये हम पर प्रसन्न होओ। कृपा करो। कमलनयन! चिरकाल से तुम्हारे प्रति पाली-पोसी आशा-अभिलाषा की लहलहाती लता का छेदन मत करो॥३३॥

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥ ३४॥

मनमोहन! अब तक हमारा चित्त घर के काम-धंधों में लगता था। इसी से हमारे हाथ भी उनमें रमे हुए थे। परन्तु तुमने हमारे देखते-देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। इसमें तुम्हें कोई कठिनाई भी नहीं उठानी पड़ी, तुम तो सुखस्वरूप हो न! परन्तु अब तो हमारी गति-मति निराली ही हो गयी है। हमारे ये पैर तुम्हारे चरणकमलों को छोड़कर एक पग भी हटने के लिये तैयार नहीं हैं, नहीं हट रहे हैं। फिर हम व्रज में कैसे जायँ? और यदि वहाँ जायँ भी तो करें क्या? ॥३४॥

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥ ३५॥

प्राणवल्लभ! हमारे प्यारे सखा! तुम्हारी मन्द-मन्द मधुर मुसकान, प्रेमभरी चितवन और मनोहर संगीत ने हमारे हृदय में तुम्हारे प्रेम और मिलन की आग धधका दी है। उसे तुम अपने अधरों की रसधारा से बुझा दो। नहीं तो प्रियतम! हम सच कहती हैं, तुम्हारी विरह-व्यथा की आग से हम अपने-अपने शरीर जला देंगी और ध्यान के द्वारा तुम्हारे चरणकमलों को प्राप्त करेंगी॥३५॥

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः॥ ३६॥

प्यारे कमलनयन! तुम वनवासियों के प्यारे हो और वे भी तुमसे बहुत प्रेम करते हैं। इससे प्राय: तुम उन्हीं के पास रहते हो। यहाँ तक कि तुम्हारे जिन चरणकमलों की सेवा का अवसर स्वयं लक्ष्मीजी को भी कभी-कभी ही मिलता है, उन्हीं चरणों का स्पर्श हमें प्राप्त हुआ। जिस दिन यह सौभाग्य हमें मिला और तुमने हमें स्वीकार करके आनन्दित किया, उसी दिन से हम और किसी के सामने एक क्षण के लिये भी ठहरने में असमर्थ हो गयी हैं—पति-पुत्रादिकों की सेवा तो दूर रही॥३६॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्या: स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयं च तव पादरज: प्रपन्ना: ॥ ३७॥

हमारे स्वामी! जिन लक्ष्मीजी का कृपाकटाक्ष प्राप्त करने के लिये बड़े-बड़े देवता तपस्या करते रहते हैं, वही लक्ष्मीजी तुम्हारे वक्ष:स्थल में बिना किसी की प्रतिद्वन्द्विता के स्थान प्राप्त कर लेने पर भी अपनी सौत तुलसी के साथ तुम्हारे चरणों की रज पाने की अभिलाषा किया करती हैं। अब तक के सभी भक्तों ने उस चरणरज का सेवन किया है। उन्हीं के समान हम भी तुम्हारी उसी चरणरज की शरण में आयी हैं॥३७॥

तन्न: प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशा:।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥ ३८॥

भगवन्! अब तक जिसने भी तुम्हारे चरणों की शरण ली, उसके सारे कष्ट तुमने मिटा दिये। अब तुम हम पर कृपा करो। हमें भी अपने प्रसाद का भाजन बनाओ। हम तुम्हारी सेवा करने की आशा-अभिलाषा से घर, गाँव, कुटुम्ब—सब कुछ छोड़कर तुम्हारे युगल चरणों की शरण में आयी हैं। प्रियतम! वहाँ तो तुम्हारी आराधना के लिये अवकाश ही नहीं है। पुरुषभूषण! पुरुषोत्तम! तुम्हारी मधुर मुसकान और चारु चितवन ने हमारे हृदय में प्रेम की—मिलन की आकांक्षा की आग धधका दी है; हमारा रोम-रोम उससे जल

रहा है। तुम हमें अपनी दासी के रूप में स्वीकार कर लो। हमें अपनी सेवा का अवसर दो ॥३८॥

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥ ३९॥

प्रियतम! तुम्हारा सुन्दर मुखकमल, जिस पर घुँघराली अलकें झलक रही हैं; तुम्हारे ये कमनीय कपोल, जिन पर सुन्दर-सुन्दर कुण्डल अपना अनन्त सौन्दर्य बिखेर रहे हैं; तुम्हारे ये मधुर अधर, जिनकी सुधा सुधा को भी लजाने वाली है; तुम्हारी यह नयन मनोहारी चितवन, जो मन्द-मन्द मुसकान से उल्लसित हो रही है; तुम्हारी ये दोनों भुजाएँ, जो शरणागतों को अभयदान देने में अत्यन्त उदार हैं और तुम्हारा यह वक्षःस्थल, जो लक्ष्मीजी का—सौन्दर्य की एकमात्र देवी का नित्य क्रीडास्थल है, देखकर हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं॥३९॥

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥ ४०॥

प्यारे श्यामसुन्दर! तीनों लोकों में भी और ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोह-क्रम से विविध प्रकार की मूर्च्छनाओं से युक्त तुम्हारी वंशी की तान सुनकर तथा इस त्रिलोकसुन्दर मोहिनी मूर्ति को—जो अपने एक बूँद सौन्दर्य से त्रिलोकी को सौन्दर्य का दान करती है एवं जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिण भी रोमाञ्चित, पुलकित हो जाते हैं—अपने नेत्रों से निहारकर आर्य-मर्यादा से विचलित न हो जाय, कुल और लोकलज्जा को त्यागकर तुममें अनुरक्त न हो जाय॥४०॥

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥ ४१॥

हमसे यह बात छिपी नहीं है कि जैसे भगवान् नारायण देवताओं की रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम व्रजमण्डल का भय और दुःख मिटाने के लिये ही प्रकट हुए हो। और यह भी स्पष्ट ही है कि दीन-दुखियों पर तुम्हारा बड़ा प्रेम, बड़ी कृपा है। प्रियतम! हम भी बड़ी दुःखिनी हैं। तुम्हारे मिलन की आकांक्षा की आग से हमारा वक्षःस्थल जल रहा है। तुम अपनी इन दासियों के वक्षःस्थल और सिर पर अपने कोमल करकमल रखकर इन्हें अपना लो; हमें जीवनदान दो ॥४१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।

प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥ ४२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सनकादि योगियों और शिवादि योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं। जब उन्होंने गोपियों की व्यथा और व्याकुलता से भरी वाणी सुनी, तब उनका हृदय दया से भर गया और यद्यपि वे आत्माराम हैं—अपने-आपमें ही रमण करते रहते हैं, उन्हें अपने अतिरिक्त और किसी भी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है, फिर भी उन्होंने हँसकर उनके साथ क्रीडा प्रारम्भ की ॥४२ ॥

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः

प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।

उदारहासद्विजकुन्ददीधिति-

र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥ ४३॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी भाव-भङ्गी और चेष्टाएँ गोपियों के अनुकूल कर दीं; फिर भी वे अपने स्वरूप में ज्यों-के-त्यों एकरस स्थित थे, अच्युत थे। जब वे खुलकर हँसते, तब उनके उज्ज्वल-उज्ज्वल दाँत कुन्दकली के समान जान पड़ते थे। उनकी प्रेमभरी चितवन से और उनके दर्शन के आनन्द से गोपियों का मुखकमल प्रफुल्लित हो गया। वे उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़ी हो गयीं। उस समय श्रीकृष्ण की ऐसी शोभा हुई, मानो अपनी पत्नी तारिकाओं से घिरे हुए चन्द्रमा ही हों ॥४३ ॥

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।

मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्॥ ४४॥

गोपियों के शत-शत यूथों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण वैजयन्ती माला पहने वृन्दावन को शोभायमान करते हुए विचरण करने लगे। कभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के गुण और लीलाओं का गान करतीं, तो कभी श्रीकृष्ण गोपियों के प्रेम और सौन्दर्य के गीत गाने लगते ॥४४ ॥

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।
रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना॥ ४५॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ यमुनाजी के पावन पुलिन पर, जो कपूर के समान चमकीली बालू से जगमगा रहा था, पदार्पण किया। वह यमुनाजी की तरल तरङ्गों के स्पर्श से शीतल और कुमुदिनी की सहज सुगन्ध से सुवासित वायु के द्वारा सेवित हो रहा था। उस आनन्दप्रद पुलिन पर भगवान् ने गोपियों के साथ क्रीडा की ॥४५ ॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥ ४६॥

हाथ फैलाना, आलिङ्गन करना, गोपियों के हाथ दबाना, उनकी चोटी, जाँघ, नीवी और स्तन आदि का स्पर्श करना, विनोद करना, नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवन से देखना और मुस्कराना—इन क्रियाओं के द्वारा गोपियों के दिव्य कामरस को, परमोज्ज्वल प्रेमभाव को उत्तेजित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें क्रीडा द्वारा आनन्दित करने लगे ॥४६ ॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥ ४७॥

उदार शिरोमणि सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्ण ने जब इस प्रकार गोपियों का सम्मान किया, तब गोपियों के मन में ऐसा भाव आया कि संसार की समस्त स्त्रियों में हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे समान और कोई नहीं है। वे कुछ मानवती हो गयीं ॥४७ ॥

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।

प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥ ४८॥

जब भगवान् ने देखा कि इन्हें तो अपने सुहाग का कुछ गर्व हो आया है और अब मान भी करने लगी हैं, तब वे उनका गर्व शान्त करने के लिये तथा उनका मान दूर कर प्रसन्न करने के लिये वहीं—उनके बीच में ही अन्तर्धान हो गये॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे भगवतो रासक्रीडावर्णनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥२९॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों की दशा

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।

अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् सहसा अन्तर्धान हो गये। उन्हें न देखकर व्रजवनिताओं की वैसी ही दशा हो गयी, जैसे यूथपति गजराज के बिना हथिनियों की होती है। उनका हृदय विरह की ज्वाला से जलने लगा॥१॥

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-

र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।

आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-

स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्ण की मदोन्मत्त गजराज की-सी चाल, प्रेमभरी मुसकान, विलासभरी चितवन, मनोरम प्रेमालाप, भिन्न-भिन्न प्रकार की लीलाओं तथा शृङ्गार-रस की भाव-भङ्गियों ने उनके चित्त को चुरा लिया था! वे प्रेम की मतवाली गोपियाँ श्रीकृष्णमय हो गयीं और फिर श्रीकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का अनुकरण करने लगीं॥२॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु

प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।

असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका

न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥ ३॥

अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की चाल-ढाल, हास-विलास और चितवन-बोलन आदि में श्रीकृष्ण की प्यारी गोपियाँ उनके समान ही बन गयीं;

उनके शरीर में भी वही गति-मति, वही भाव-भङ्गी उतर आयी। वे अपने को सर्वथा भूलकर श्रीकृष्ण स्वरूप हो गयीं और उन्हीं के लीला-विलास का अनुकरण करती हुई 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं ॥३॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥ ४॥

वे सब परस्पर मिलकर ऊँचे स्वर से उन्हीं के गुणों का गान करने लगीं और मतवाली होकर एक वन से दूसरे वन में, एक झाड़ी से दूसरी झाड़ी में जा-जाकर श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने लगीं। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण कहीं दूर थोड़े ही गये थे। वे तो समस्त जड़-चेतन पदार्थों में तथा उनके बाहर भी आकाश के समान एकरस स्थित ही हैं। वे वहीं थे, उन्हीं में थे; परन्तु उन्हें न देखकर गोपियाँ वनस्पतियों से—पेड़-पौधों से उनका पता पूछने लगीं ॥४॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः॥ ५॥

(गोपियों ने पहले बड़े-बड़े वृक्षों से जाकर पूछा) 'हे पीपल, पाकर और बरगद! नन्दनन्दन श्यामसुन्दर अपनी प्रेमभरी मुसकान और चितवन से हमारा मन चुराकर चले गये हैं। क्या तुम लोगों ने उन्हें देखा है? ॥५॥

कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः॥ ६॥

कुरबक, अशोक, नागकेशर, पुन्नाग और चम्पा! बलरामजी के छोटे भाई, जिनकी मुसकानमात्र से बड़ी-बड़ी मानिनियों का मानमर्दन हो जाता है, इधर आये थे क्या?' ॥६॥

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः॥ ७॥

(अब उन्होंने स्त्री जाति के पौधों से कहा—) 'बहिन तुलसी! तुम्हारा हृदय तो बड़ा कोमल है, तुम तो सभी लोगों का कल्याण चाहती हो। भगवान् के चरणों में तुम्हारा प्रेम तो है ही, वे भी तुमसे बहुत प्यार करते हैं। तभी तो

भौंरों के मँडराते रहने पर भी वे तुम्हारी माला नहीं उतारते, सर्वदा पहने रहते हैं। क्या तुमने अपने परम प्रियतम श्यामसुन्दर को देखा है? ॥७॥

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः॥ ८॥

प्यारी मालती! मल्लिके! जाती और जूही! तुम लोगों ने कदाचित् हमारे प्यारे माधव को देखा होगा। क्या वे अपने कोमल करों से स्पर्श करके तुम्हें आनन्दित करते हुए इधर से गये हैं?' ॥८॥

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥ ९॥

'रसाल, आक, बेल, मौलसिरी, आम, कदम्ब और नीम तथा अन्यान्य यमुना के तट पर विराजमान सुखी तरुवरों! तुम्हारा जन-जीवन केवल परोपकार के लिये है। श्रीकृष्ण के बिना हमारा जीवन सूना हो रहा है। हम बेहोश हो रही हैं। तुम हमें उन्हें पाने का मार्ग बता दो' ॥९॥

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥ १०॥

'भगवान् की प्रेयसी पृथ्वीदेवी! तुमने ऐसी कौन-सी तपस्या की है कि श्रीकृष्ण के चरणकमलों का स्पर्श प्राप्त करके तुम आनन्द से भर रही हो और तृण-लता आदि के रूप में अपना रोमाञ्च प्रकट कर रही हो? तुम्हारा यह उल्लास-विलास श्रीकृष्ण के चरण स्पर्श के कारण है अथवा वामनावतार में विश्वरूप धारण करके उन्होंने तुम्हें जो नापा था, उसके कारण है? कहीं उनसे भी पहले वराह भगवान् के अङ्ग-सङ्ग के कारण तो तुम्हारी यह दशा नहीं हो रही है?' ॥१०॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।

कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्त्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥ ११॥

'अरी सखी! हरिणियों! हमारे श्यामसुन्दर के अङ्ग-सङ्ग से सुषमा-सौन्दर्य की धारा बहती रहती है, वे कहीं अपनी प्राणप्रिया के साथ तुम्हारे नयनों को परमानन्द का दान करते हुए इधर से ही तो नहीं गये हैं? देखो, देखो; यहाँ कुलपति श्रीकृष्ण की कुन्दकली की माला की मनोहर गन्ध आ रही है, जो उनकी परम प्रेयसी के अङ्ग-सङ्ग से लगे हुए कुच-कुङ्कुम से अनुरञ्जित रहती है'॥११॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः॥ १२॥

'तरुवरों! उनकी माला की तुलसी में ऐसी सुगन्ध है कि उसकी गन्ध के लोभी मतवाले भौंरे प्रत्येक क्षण उस पर मँडराते रहते हैं। उनके एक हाथ में लीलाकमल होगा और दूसरा हाथ अपनी प्रेयसी के कंधे पर रक्खे होंगे। हमारे प्यारे श्यामसुन्दर इधर से विचरते हुए अवश्य गये होंगे। जान पड़ता है, तुम लोग उन्हें प्रणाम करने के लिये ही झुके हो। परन्तु उन्होंने अपनी प्रेमभरी चितवन से भी तुम्हारी वन्दना का अभिनन्दन किया है या नहीं?'॥१२॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥ १३॥

'अरी सखी! इन लताओं से पूछो। ये अपने पति वृक्षों को भुजपाश में बाँधकर आलिङ्गन किये हुए हैं, इससे क्या हुआ? इनके शरीर में जो पुलक है, रोमाञ्च है, वह तो भगवान् के नखों के स्पर्श से ही है। अहो! इनका कैसा सौभाग्य है?'॥१३॥

इत्युन्मत्तवचोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥ १४॥

परीक्षित्! इस प्रकार मतवाली गोपियाँ प्रलाप करती हुई भगवान् श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कातर हो रही थीं। अब और भी गाढ़ आवेश हो जाने

के कारण वे भगवन्मय होकर भगवान् की विभिन्न लीलाओं का अनुकरण करने लगीं ॥१४॥

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम्॥ १५॥

एक पूतना बन गयी, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तन पीने लगी। कोई शकट बन गयी, तो किसी ने बालकृष्ण बनकर रोते हुए उसे पैर की ठोकर मारकर उलट दिया ॥१५॥

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः॥ १६॥

कोई सखी बालकृष्ण बनकर बैठ गयी तो कोई तृणावर्त दैत्य का रूप धारण करके उसे हर ले गयी। कोई गोपी पाँव घसीट-घसीटकर घुटनों के बल बकैयाँ चलने लगी और उस समय उसके पयजेब रुनझुन-रुनझुन बोलने लगे ॥१६॥

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम्॥ १७॥

एक बनी कृष्ण, तो दूसरी बनी बलराम, और बहुत-सी गोपियाँ ग्वालबालों के रूप में हो गयीं। एक गोपी बन गयी वत्सासुर, तो दूसरी बनी बकासुर। तब तो गोपियों ने अलग-अलग श्रीकृष्ण बनकर वत्सासुर और बकासुर बनी हुई गोपियों को मारने की लीला की ॥१७॥

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम्।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति॥ १८॥

जैसे श्रीकृष्ण वन में करते थे, वैसे ही एक गोपी बाँसुरी बजा-बजाकर दूर गये हुए पशुओं को बुलाने का खेल खेलने लगी। तब दूसरी गोपियाँ 'वाह-वाह' करके उसकी प्रशंसा करने लगीं ॥१८॥

कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः॥ १९॥

एक गोपी अपने को श्रीकृष्ण समझकर दूसरी सखी के गले में बाँह डालकर चलती और गोपियों से कहने लगती—'मित्रो! मैं श्रीकृष्ण हूँ। तुम

लोग मेरी यह मनोहर चाल देखो' ॥१९॥

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्॥ २०॥

कोई गोपी श्रीकृष्ण बनकर कहती—'अरे ब्रजवासियों! तुम आँधी-पानी से मत डरो। मैंने उससे बचने का उपाय निकाल लिया है।' ऐसा कहकर गोवर्धन-धारण का अनुकरण करती हुई वह अपनी ओढ़नी उठाकर ऊपर तान लेती ॥२०॥

आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्॥ २१॥

परीक्षित्! एक गोपी बनी कालिय नाग, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसके सिर पर पैर रखकर चढ़ी-चढ़ी बोलने लगी—'रे दुष्ट साँप! तू यहाँ से चला जा। मैं दुष्टों का दमन करने के लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ' ॥२१॥

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम्।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा॥ २२॥

इतने में ही एक गोपी बोली—'अरे ग्वालों! देखो, वन में बड़ी भयङ्कर आग लगी है। तुम लोग जल्दी-से-जल्दी अपनी आँखें मूँद लो, मैं अनायास ही तुम लोगों की रक्षा कर लूँगा' ॥२२॥

बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम्॥ २३॥

एक गोपी यशोदा बनी और दूसरी बनी श्रीकृष्ण। यशोदा ने फूलों की माला से श्रीकृष्ण को ऊखल में बाँध दिया। अब वह श्रीकृष्ण बनी हुई सुन्दरी गोपी हाथों से मुँह ढककर भय की नकल करने लगी ॥२३॥

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः॥ २४॥

परीक्षित्! इस प्रकार लीला करते-करते गोपियाँ वृन्दावन के वृक्ष और लता आदि से फिर श्रीकृष्ण का पता पूछने लगीं। इसी समय उन्होंने एक स्थान पर भगवान् के चरणचिह्न देखे ॥२४॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः॥ २५॥

वे आपस में कहने लगीं—'अवश्य ही ये चरणचिह्न उदार शिरोमणि नन्दनन्दन श्यामसुन्दर के हैं; क्योंकि इनमें ध्वजा, कमल, वज्र, अङ्कुश और जौ आदि के चिह्न स्पष्ट ही दीख रहे हैं' ॥२५॥

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन्॥ २६॥

उन चरणचिह्नों के द्वारा व्रजवल्लभ भगवान् को ढूँढ़ती हुई गोपियाँ आगे बढ़ीं, तब उन्हें श्रीकृष्ण के साथ किसी व्रजवनिता के भी चरणचिह्न दीख पड़े। उन्हें देखकर वे व्याकुल हो गयीं। और आपस में कहने लगीं— ॥२६॥

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा॥ २७॥

'जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराज के साथ गयी हो, वैसे ही नन्दनन्दन श्यामसुन्दर के साथ उनके कंधे पर हाथ रखकर चलने वाली किस बड़भागिनी के ये चरणचिह्न हैं? ॥२७॥

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥ २८॥

अवश्य ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण की यह 'आराधिका' होगी। इसीलिये इस पर प्रसन्न होकर हमारे प्राणप्यारे श्यामसुन्दर ने हमें छोड़ दिया है और इसे एकान्त में ले गये हैं॥२८॥

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥ २९॥

प्यारी सखियों! भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणकमल से जिस रज का स्पर्श कर देते हैं, वह धन्य हो जाती है, उसके अहोभाग्य हैं! क्योंकि ब्रह्मा, शङ्कर और लक्ष्मी आदि भी अपने अशुभ नष्ट करने के लिये उस रज को अपने शिर पर धारण करते हैं' ॥२९॥

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्॥ ३०॥

'अरी सखी! चाहे कुछ भी हो—यह जो सखी हमारे सर्वस्व श्रीकृष्ण को एकान्त में ले जाकर अकेले ही उनकी अधर-सुधा का रस पी रही है, इस

गोपी के उभरे हुए चरणचिह्न तो हमारे हृदय में बड़ा ही क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं' ॥३०॥

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः॥ ३१॥

यहाँ उस गोपी के पैर नहीं दिखलायी देते। मालूम होता है, यहाँ प्यारे श्यामसुन्दर ने देखा होगा कि मेरी प्रेयसी के सुकुमार चरणकमलों में घास की नोक गड़ती होगी; इसलिये उन्होंने उसे अपने कंधे पर चढ़ा लिया होगा॥३१॥

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः॥ ३२॥

सखियो! यहाँ देखो, प्यारे श्रीकृष्ण के चरणचिह्न अधिक गहरे—बालू में धँसे हुए हैं। इससे सूचित होता है कि यहाँ वे किसी भारी वस्तु को उठाकर चले हैं, उसी के बोझ से उनके पैर जमीन में धँस गये हैं। हो-न-हो यहाँ उस कामी ने अपनी प्रियतमा को अवश्य कंधे पर चढ़ाया होगा॥३२॥

अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना।
अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे॥ ३३॥

देखो-देखो, यहाँ परम प्रेमी व्रजवल्लभ ने फूल चुनने के लिये अपनी प्रेयसी को नीचे उतार दिया है और यहाँ परम प्रियतम श्रीकृष्ण ने अपनी प्रेयसी के लिये फूल चुने हैं। उचक-उचककर फूल तोड़ने के कारण यहाँ उनके पंजे तो धरती में गड़े हुए हैं और एड़ी का पता ही नहीं है॥३३॥

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्॥ ३४॥

परम प्रेमी श्रीकृष्ण ने कामी पुरुष के समान यहाँ अपनी प्रेयसी के केश सँवारे हैं। देखो, अपने चुने हुए फूलों को प्रेयसी की चोटी में गूँथने के लिये वे यहाँ अवश्य ही बैठे रहे होंगे' ॥३४॥

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्॥ ३५॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। वे अपने-आप में ही

सन्तुष्ट और पूर्ण हैं। जब वे अखण्ड हैं, उनमें दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनमें काम की कल्पना कैसे हो सकती है? फिर भी उन्होंने कामियों की दीनता—स्त्रीपरवशता और स्त्रियों की कुटिलता दिखलाते हुए वहाँ उस गोपी के साथ एकान्त में क्रीडा की थी—एक खेल रचा था ॥३५॥

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने॥ ३६॥
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः॥ ३७॥

इस प्रकार गोपियाँ मतवाली सी होकर, अपनी सुध-बुध खोकर एक दूसरे को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणचिह्न दिखलाती हुई वन-वन में भटक रही थीं। इधर भगवान् श्रीकृष्ण दूसरी गोपियों को वन में छोड़कर जिस भाग्यवती गोपी को एकान्त में ले गये थे, उसने समझा कि 'मैं ही समस्त गोपियों में श्रेष्ठ हूँ। इसीलिये तो हमारे प्यारे श्रीकृष्ण दूसरी गोपियों को छोड़कर, जो उन्हें इतना चाहती हैं, केवल मेरा ही मान करते हैं। मुझे ही आदर दे रहे हैं' ॥३६-३७॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥ ३८॥

भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा और शङ्कर के भी शासक हैं। वह गोपी वन में जाकर अपने प्रेम और सौभाग्य के मद से मतवाली हो गयी और उन्हीं श्रीकृष्ण से कहने लगी—'प्यारे! मुझसे अब तो और नहीं चला जाता। मेरे सुकुमार पाँव थक गये हैं। अब तुम जहाँ चलना चाहो, मुझे अपने कंधे पर चढ़ाकर ले चलो' ॥३८॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥ ३९॥

अपनी प्रियतमा की यह बात सुनकर श्यामसुन्दर ने कहा—'अच्छा प्यारी! तुम अब मेरे कंधे पर चढ़ लो।' यह सुनकर वह गोपी ज्यों ही उनके कंधे पर चढ़ने चली, त्यों ही श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये और वह सौभाग्यवती गोपी रोने-पछताने लगी ॥३९॥

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।

दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥ ४०॥

'हा नाथ! हा रमण! हा प्रेष्ठ! हा महाभुज! तुम कहाँ हो! कहाँ हो!! मेरे सखा! मैं तुम्हारी दीन-हीन दासी हूँ। शीघ्र ही मुझे अपने सान्निध्य का अनुभव कराओ, मुझे दर्शन दो'॥४०॥

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः।

ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम्॥ ४१॥

परीक्षित्! गोपियाँ भगवान् के चरणचिह्नों के सहारे उनके जाने का मार्ग ढूँढ़ती-ढूँढ़ती वहाँ जा पहुँचीं। थोड़ी दूर से ही उन्होंने देखा कि उनकी सखी अपने प्रियतम के वियोग से दुखी होकर अचेत हो गयी है॥४१॥

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात्।

अवमानं च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः॥ ४२॥

जब उन्होंने उसे जगाया, तब उसने भगवान् श्रीकृष्ण से उसे जो प्यार और सम्मान प्राप्त हुआ था, वह उनको सुनाया। उसने यह भी कहा कि 'मैंने कुटिलतावश उनका अपमान किया, इसी से वे अन्तर्धान हो गये।' उसकी बात सुनकर गोपियों के आश्चर्य की सीमा न रही॥४२॥

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते।

तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः॥ ४३॥

इसके बाद वन में जहाँ तक चन्द्रदेव की चाँदनी छिटक रही थी, वहाँ तक वे उन्हें ढूँढ़ती हुई गयीं। परन्तु जब उन्होंने देखा कि आगे घना अन्धकार है—घोर जंगल है—हम ढूँढ़ती जायँगी तो श्रीकृष्ण और भी उसके अंदर घुस जायँगे, तब वे उधर से लौट आयीं॥४३॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।

तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥ ४४॥

परीक्षित्! गोपियों का मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणी से कृष्ण चर्चा के अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीर से केवल श्रीकृष्ण के लिये और केवल श्रीकृष्ण की चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँ तक कहूँ; उनका रोम-रोम, उनकी आत्मा श्रीकृष्णमय हो रही थीं। वे केवल

उनके गुणों और लीलाओं का ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं थी, फिर घर की याद कौन करता ? ॥४४ ॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः॥ ४५॥

गोपियों का रोम-रोम इस बात की प्रतीक्षा और आकाङ्क्षा कर रहा था कि जल्दी-से-जल्दी श्रीकृष्ण आयें। श्रीकृष्ण की ही भावना में डूबी हुई गोपियाँ यमुनाजी के पावन पुलिन पर—रमणरेती में लौट आयीं और एक साथ मिलकर श्रीकृष्ण के गुणों का गान करने लगीं॥४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः॥३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

गोपीगीत

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥ १॥

गोपियाँ विरहावेश में गाने लगीं—प्यारे! तुम्हारे जन्म के कारण वैकुण्ठ आदि लोकों से भी व्रज की महिमा बढ़ गयी है। तभी तो सौन्दर्य और मृदुलता की देवी लक्ष्मीजी अपना निवास स्थान वैकुण्ठ छोड़कर यहाँ नित्य-निरन्तर निवास करने लगी हैं, इसकी सेवा करने लगी हैं। परन्तु प्रियतम! देखो तुम्हारी गोपियाँ जिन्होंने तुम्हारे चरणों में ही अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं, वन-वन में भटककर तुम्हें ढूँढ़ रही हैं॥१॥

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥ २॥

हमारे प्रेमपूर्ण हृदय के स्वामी! हम तुम्हारी बिना मोल की दासी हैं। तुम शरत्कालीन जलाशय में सुन्दर-से-सुन्दर सरसिज की कर्णिका के सौन्दर्य को चुराने वाले नेत्रों से हमें घायल कर चुके हो। हमारे मनोरथ पूर्ण करने वाले प्राणेश्वर! क्या नेत्रों से मारना वध नहीं है? अस्त्रों से हत्या करना ही वध है?॥२॥

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥ ३॥

पुरुषशिरोमणे! यमुनाजी के विषैले जल से होने वाली मृत्यु, अजगर के रूप में खाने वाले अघासुर इन्द्र की वर्षा, आँधी, बिजली, दावानल, वृषभासुर और व्योमासुर आदि से एवं भिन्न-भिन्न अवसरों पर सब प्रकार के भयों से तुमने बार-बार हम लोगों की रक्षा की है॥३॥

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥ ४॥

तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो; समस्त शरीरधारियों के हृदय में रहने वाले उनके साक्षी हो, अन्तर्यामी हो। सखे! ब्रह्माजी की प्रार्थना से विश्व की रक्षा करने के लिये तुम यदुवंश में अवतीर्ण हुए हो॥४॥

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्॥ ५॥

अपने प्रेमियों की अभिलाषा पूर्ण करने वालों में अग्रगण्य यदुवंश शिरोमणे! जो लोग जन्म-मृत्युरूप संसार के चक्कर से डरकर तुम्हारे चरणों की शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें तुम्हारे करकमल अपनी छत्रछाया में लेकर अभय कर देते हैं। हमारे प्रियतम! सबकी लालसा-अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला वही करकमल, जिससे तुमने लक्ष्मीजी का हाथ पकड़ा है, हमारे सिर पर रख दो॥५॥

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय॥ ६॥

व्रजवासियों के दुःख दूर करने वाले वीर शिरोमणि श्यामसुन्दर! तुम्हारी मन्द-मन्द मुसकान की एक उज्ज्वल रेखा ही तुम्हारे प्रेमीजनों के सारे मान-मद को चूर-चूर कर देने के लिये पर्याप्त है। हमारे प्यारे सखा! हमसे रूठो मत, प्रेम करो। हम तो तुम्हारी दासी हैं, तुम्हारे चरणों पर निछावर हैं। हम अबलाओं को अपना वह परम सुन्दर साँवला-साँवला मुखकमल दिखलाओ॥६॥

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्॥ ७॥

तुम्हारे चरणकमल शरणागत प्राणियों के सारे पापों को नष्ट कर देते हैं। वे समस्त सौन्दर्य, माधुर्य की खान हैं और स्वयं लक्ष्मीजी उनकी सेवा करती रहती हैं। तुम उन्हीं चरणों से हमारे बछड़ों के पीछे-पीछे चलते हो और हमारे लिये उन्हें साँप के फणों तक पर रखने में भी तुमने सङ्कोच नहीं किया। हमारा हृदय तुम्हारी विरह-व्यथा की आग से जल रहा है, तुम्हारी मिलन की आकाङ्क्षा हमें सता रही है। तुम अपने वे ही चरण हमारे वक्षःस्थल पर रखकर

हमारे हृदय की ज्वाला को शान्त कर दो ॥७॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः॥ ८॥

कमलनयन! तुम्हारी वाणी कितनी मधुर है! उसका एक-एक पद, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातिमधुर है। बड़े-बड़े विद्वान् उसमें रम जाते हैं। उस पर अपना सर्वस्व निछावर कर देते हैं। तुम्हारी उसी वाणी का रसास्वादन करके तुम्हारी आज्ञाकारिणी दासी गोपियाँ मोहित हो रही हैं। दानवीर! अब तुम अपना दिव्य अमृत से भी मधुर अधर-रस पिलाकर हमें जीवन-दान दो, छका दो ॥८॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥ ९॥

प्रभो! तुम्हारी लीलाकथा भी अमृतस्वरूप है। विरह से सताये हुए लोगों के लिये तो वह जीवन-सर्वस्व ही है। बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओं—भक्त कवियों ने उसका गान किया है, वह सारे पाप-ताप तो मिटाती ही है, साथ ही श्रवण मात्र से परम मङ्गल—परम कल्याण का दान भी करती है। वह परम सुन्दर, परम मधुर और बहुत विस्तृत भी है। जो तुम्हारी उस लीला-कथा का गान करते हैं, वास्तव में भूलोक में वे ही सबसे बड़े दाता हैं ॥९॥

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥ १०॥

प्यारे! एक दिन वह था, जब तुम्हारी प्रेमभरी हँसी और चितवन तथा तुम्हारी तरह-तरह की क्रीडाओं का ध्यान करके हम आनन्द में मग्न हो जाया करती थीं। उनका ध्यान भी परम मङ्गलदायक है, उसके बाद तुम मिले। तुमने एकान्त में हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं, प्रेम की बातें कहीं। हमारे कपटी मित्र! अब वे सब बातें याद आकर हमारे मन को क्षुब्ध किये देती हैं ॥१०॥

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥ ११॥

हमारे प्यारे स्वामी! तुम्हारे चरण कमल से भी सुकोमल और सुन्दर हैं। जब तुम गौओं को चराने के लिये व्रज से निकलते हो तब यह सोचकर कि

तुम्हारे वे युगल चरण कंकड़, तिनके और कुश-काँटे गड़ जाने से कष्ट पाते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है। हमें बड़ा दु:ख होता है ॥११॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि॥ १२॥

दिन ढलने पर जब तुम वन से घर लौटते हो, तो हम देखती हैं कि तुम्हारे मुखकमल पर नीली-नीली अलकें लटक रही हैं और गौओं के खुर से उड़-उड़कर घनी धूल पड़ी हुई है। हमारे वीर प्रियतम! तुम अपना वह सौन्दर्य हमें दिखा-दिखाकर हमारे हृदय में मिलन की आकाङ्क्षा—प्रेम उत्पन्न करते हो ॥१२॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्॥ १३॥

प्रियतम! एकमात्र तुम्हीं हमारे सारे दु:खों को मिटाने वाले हो। तुम्हारे चरणकमल शरणागत भक्तों की समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं। स्वयं लक्ष्मीजी उनकी सेवा करती हैं और पृथ्वी के तो वे भूषण ही हैं। आपत्ति के समय एकमात्र उन्हीं का चिन्तन करना उचित है, जिससे सारी आपत्तियाँ कट जाती हैं। कुञ्जविहारी! तुम अपने वे परम कल्याणस्वरूप चरणकमल हमारे वक्ष:स्थल पर रखकर हृदय की व्यथा शान्त कर दो ॥१३॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ १४॥

वीर शिरोमणे! तुम्हारा अधरामृत मिलन के सुख को, आकाङ्क्षा को बढ़ाने वाला है। वह विरहजन्य समस्त शोक-सन्ताप को नष्ट कर देता है। यह गाने वाली बाँसुरी भलीभाँति उसे चूमती रहती है। जिन्होंने एक बार उसे पी लिया, उन लोगों को फिर दूसरों और दूसरों की आसक्तियों का स्मरण भी नहीं होता। हमारे वीर! अपना वही अधरामृत हमें वितरण करो, पिलाओ ॥१४॥

अटति यद् भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥ १५॥

प्यारे! दिन के समय जब तुम वन में विहार करने के लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युग के समान हो जाता है, और जब तुम सन्ध्या के समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकों से युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द

हम देखती हैं, उस समय पलकों का गिरना हमारे लिये भार हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रों की पलकों को बनाने वाला विधाता मूर्ख है॥१५॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥ १६॥

प्यारे श्यामसुन्दर! हम अपने पति-पुत्र, भाई-बन्धु और कुल-परिवार का त्याग कर, उनकी इच्छा और आज्ञाओं का उल्लङ्घन करके तुम्हारे पास आयी हैं। हम तुम्हारी एक-एक चाल जानती हैं, सङ्केत समझती हैं और तुम्हारे मधुर गायन की गति समझकर, उसी से मोहित होकर यहाँ आयी हैं। कपटी! इस प्रकार रात्रि के समय आयी हुई योषितों को तुम्हारे सिवा और कौन छोड़ सकता है॥१६॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥ १७॥

प्यारे! एकान्त में तुम मिलन की आकाङ्क्षा, प्रेम-भाव को जगाने वाली बातें करते थे। ठिठोली करके हमें छेड़ते थे। तुम प्रेमभरी चितवन से हमारी ओर देखकर मुसकरा देते थे और हम देखती थीं तुम्हारा वह विशाल वक्षःस्थल, जिस पर लक्ष्मीजी नित्य-निरन्तर निवास करती हैं। तबसे अब तक निरन्तर हमारी लालसा बढ़ती ही जा रही है और हमारा मन अधिकाधिक मुग्ध होता जा रहा है॥१७॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्॥ १८॥

प्यारे! तुम्हारी यह अभिव्यक्ति व्रज-वनवासियों के सम्पूर्ण दुःख-ताप को नष्ट करने वाली और विश्व का पूर्ण मङ्गल करने के लिये है। हमारा हृदय तुम्हारे प्रति लालसा से भर रहा है। कुछ थोड़ी-सी ऐसी औषधि दो, जो तुम्हारे निजजनों के हृदय रोग को सर्वथा निर्मूल कर दे॥१८॥

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥ १९॥

तुम्हारे चरण कमल से भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर भी डरते-डरते बहुत धीरे से रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। उन्हीं चरणों से तुम रात्रि के समय घोर जंगल में छिपे-छिपे भटक रहे हो ! क्या कंकड़, पत्थर आदि की चोट लगने से उनमें पीड़ा नहीं होती ? हमें तो इसकी सम्भावना मात्र से ही चक्कर आ रहा है। हम अचेत होती जा रही हैं। श्रीकृष्ण ! श्यामसुन्दर ! प्राणनाथ ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारे लिये जी रही हैं, हम तुम्हारी हैं ॥१९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

भगवान् का प्रकट होकर गोपियों को सान्त्वना देना

श्रीशुक उवाच

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।

रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् की प्यारी गोपियाँ विरह के आवेश में इस प्रकार भाँति-भाँति से गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने प्यारे कृष्ण के दर्शन की लालसा से वे अपने को रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वर से फूट-फूटकर रोने लगीं॥१॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।

पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥ २॥

ठीक उसी समय उनके बीचोबीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकान से खिला हुआ था। गले में वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका यह रूप क्या था, सबके मन को मथ डालने वाले कामदेव के मन को भी मथने वाला था॥२॥

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।

उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम्॥ ३॥

कोटि-कोटि कामों से भी सुन्दर परम मनोहर प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर को आया देख गोपियों के नेत्र प्रेम और आनन्द से खिल उठे। वे सब-की-सब एक ही साथ इस प्रकार उठ खड़ी हुईं, मानो प्राणहीन शरीर में दिव्य प्राणों का सञ्चार हो गया हो, शरीर के एक-एक अङ्ग में नवीन चेतना—नूतन स्फूर्ति आ गयी हो॥३॥

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।

काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्॥ ४॥

एक गोपी ने बड़े प्रेम और आनन्द से श्रीकृष्ण के करकमल को अपने दोनों हाथों में ले लिया और वह धीरे-धीरे उसे सहलाने लगी। दूसरी गोपी ने उनके चन्दनचर्चित भुजदण्ड को अपने कंधे पर रख लिया॥४॥

काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्।

एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात्॥ ५॥

तीसरी सुन्दरी ने भगवान् का चबाया हुआ पान अपने हाथों में ले लिया। चौथी गोपी, जिसके हृदय में भगवान् के विरह से बड़ी जलन हो रही थी, बैठ गयी और उनके चरणकमल को अपने वक्षःस्थल पर रख लिया॥५॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।

घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा॥ ६॥

पाँचवीं गोपी प्रणयकोप से विह्वल होकर, भौंहें चढ़ाकर, दाँतों से होठ दबाकर अपने कटाक्ष-बाणों से बींधती हुई उनकी ओर ताकने लगी॥६॥

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्।

आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा॥ ७॥

छठी गोपी अपने निर्निमेष नयनों से उनके मुखकमल का मकरन्द-रस पान करने लगी। परन्तु जैसे संत पुरुष भगवान् के चरणों के दर्शन से कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह उनकी मुख-माधुरी का निरन्तर पान करते रहने पर भी तृप्त नहीं होती थी॥७॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।

पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥ ८॥

सातवीं गोपी नेत्रों के मार्ग से भगवान् को अपने हृदय में ले गयी और फिर उसने आँखें बंद कर लीं। अब मन-ही-मन भगवान् का आलिङ्गन करने से उसका शरीर पुलकित हो गया, रोम-रोम खिल उठा और वह सिद्ध योगियों के समान परमानन्द में मग्न हो गयी॥८॥

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।

जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः॥ ९॥

परीक्षित्! जैसे मुमुक्षुजन परम ज्ञानी संत पुरुष को प्राप्त करके संसार की पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही सभी गोपियों को भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन से परम आनन्द और परम उल्लास प्राप्त हुआ। उनके विरह के कारण गोपियों को जो दुःख हुआ था, उससे वे मुक्त हो गयीं और शान्ति के समुद्र में डूबने-उतराने लगीं ॥९॥

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥ १०॥

परीक्षित्! यों तो भगवान् श्रीकृष्ण अच्युत और एकरस हैं, उनका सौन्दर्य और माधुर्य निरतिशय है; फिर भी विरह-व्यथा से मुक्त हुई गोपियों के बीच में उनकी शोभा और भी बढ़ गयी। ठीक वैसे ही, जैसे परमेश्वर अपने नित्य ज्ञान, बल आदि शक्तियों से सेवित होने पर और भी शोभायमान होते हैं ॥१०॥

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम्॥ ११॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने उन व्रजसुन्दरियों को साथ लेकर यमुनाजी के पुलिन में प्रवेश किया। उस समय खिले हुए कुन्द और मन्दार के पुष्पों की सुरभि लेकर बड़ी ही शीतल और सुगन्धित मन्द-मन्द वायु चल रही थी और उसकी महँक से मतवाले होकर भौंरे इधर-उधर मँडरा रहे थे ॥११॥

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम्।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम्॥ १२॥

शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा की चाँदनी अपनी निराली ही छटा दिखला रही थी। उसके कारण रात्रि के अन्धकार का तो कहीं पता ही न था, सर्वत्र आनन्द-मङ्गल का ही साम्राज्य छाया था। वह पुलिन क्या था, यमुनाजी ने स्वयं अपनी लहरों के हाथों भगवान् की लीला के लिये सुकोमल बालुका का रंगमञ्च बना रक्खा था ॥१२॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे॥ १३॥

परीक्षित्! भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन से गोपियों के हृदय में इतने

आनन्द और इतने रस का उल्लास हुआ कि उनके हृदय की सारी आधि-व्याधि मिट गयी। जैसे कर्मकाण्ड की श्रुतियाँ उसका वर्णन करते-करते अन्त में ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन करने लगती हैं और फिर वे समस्त मनोरथों से ऊपर उठ जाती हैं, कृतकृत्य हो जाती हैं—वैसे ही गोपियाँ भी पूर्णकाम हो गयीं। अब उन्होंने अपने वक्षःस्थल पर लगी हुई रोली-केसर से चिह्नित ओढ़नी को अपने परम प्यारे सुहृद् श्रीकृष्ण के विराजने के लिये बिछा दिया ॥१३॥

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्॥ १४॥

बड़े-बड़े योगेश्वर अपने योग-साधन से पवित्र किये हुए हृदय में जिनके लिये आसन की कल्पना करते रहते हैं, किन्तु फिर भी अपने हृदय-सिंहासन पर बिठा नहीं पाते, वही सर्वशक्तिमान् भगवान् यमुनाजी की रेती में गोपियों की ओढ़नी पर बैठ गये। सहस्र-सहस्र गोपियों के बीच में उनसे पूजित होकर भगवान् बड़े ही शोभायमान हो रहे थे। परीक्षित्! तीनों लोकों में—तीनों कालों में जितना भी सौन्दर्य प्रकाशित होता है, वह सब तो भगवान् के सौन्दर्य का बिन्दुमात्र आभासभर है। वे उसके एकमात्र आश्रय हैं॥१४॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे॥ १५॥

भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस अलौकिक सौन्दर्य के द्वारा उनके प्रेम और आकाङ्क्षा को और भी उभाड़ रहे थे। गोपियों ने अपनी मन्द-मन्द मुसकान, विलासपूर्ण चितवन और तिरछी भौंहों से उनका सम्मान किया। किसी ने उनके चरणकमलों को अपनी गोद में रख लिया, तो किसी ने उनके करकमलों को। वे उनके संस्पर्श का आनन्द लेती हुई कभी-कभी कह उठती थीं—कितना सुकुमार है, कितना मधुर है! इसके बाद श्रीकृष्ण के छिप जाने से मन-ही-मन तनिक रूठकर उनके मुँह से ही उनका दोष स्वीकार कराने के लिये वे कहने लगीं— ॥१५॥

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।

नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥ १६॥

गोपियों ने कहा—नटनागर! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो प्रेम करने वालों से ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं। परन्तु कोई-कोई दोनों से ही प्रेम नहीं करते। प्यारे! इन तीनों में तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है? ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—मेरी प्रिय सखियों! जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्योग स्वार्थ को लेकर है। लेन-देन मात्र है। न तो उनमें सौहार्द है और न तो धर्म। उनका प्रेम केवल स्वार्थ के लिये ही है; इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है॥१७॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥ १८॥

सुन्दरियों! जो लोग प्रेम न करने वाले से भी प्रेम करते हैं—जैसे स्वभाव से ही करुणाशील सज्जन और माता-पिता—उनका हृदय सौहार्द से, हितैषिता से भरा रहता है और सच पूछो, तो उनके व्यवहार में निश्छल सत्य एवं पूर्ण धर्म भी है॥१८॥

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥ १९॥

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करने वालों से भी प्रेम नहीं करते, न प्रेम करने वालों का तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसे लोग चार प्रकार के होते हैं। एक तो वे, जो अपने स्वरूप में ही मस्त रहते हैं— अर्थात् जो आत्माराम हैं। दूसरे वे जो कृतकृत्य हो चुके हैं; उनका किसी से कोई प्रयोजन ही नहीं है ये आप्तकाम हैं। तीसरे अकृतज्ञ हैं, जो जानते ही नहीं कि हमसे कौन प्रेम करता है; और चौथे वे हैं, जो जान-बूझकर अपना हित करने वाले परोपकारी गुरुतुल्य लोगों से भी द्रोह करते हैं, उनको सताना चाहते हैं॥१९॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥ २०॥

गोपियों! मैं तो प्रेम करने वालों से भी प्रेम का वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। मैं ऐसा केवल इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझमें लगे, निरन्तर लगी ही रहे। जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धन की चिन्ता से भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ॥२०॥

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥ २१॥

गोपियों! इसमें सन्देह नहीं कि तुम लोगों ने मेरे लिये लोक-मर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियों को भी छोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न जाय, अपने सौन्दर्य और सुहाग की चिन्ता न करने लगे, मुझमें ही लगी रहे—इसीलिये परोक्ष रूप से तुम लोगों से प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था। इसलिये तुम लोग मेरे प्रेम में दोष मत निकालो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ॥२१॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥ २२॥

मेरी प्यारी गोपियों! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थी की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से—अमर जीवन से अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्म के लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः॥३२॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

महारास

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! गोपियाँ भगवान् की इस प्रकार प्रेमभरी सुमधुर वाणी सुनकर जो कुछ विरहजन्य ताप शेष था, उससे भी मुक्त हो गयीं और सौन्दर्य-माधुर्यनिधि प्राणप्यारे के अङ्ग-सङ्ग से सफल मनोरथ हो गयीं॥१॥

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेयसी और सेविका गोपियाँ एक-दूसरे की बाँह-में-बाँह डाले खड़ी थीं। उन स्त्री रत्नों के साथ यमुनाजी के पुलिन पर भगवान् ने अपनी रसमयी रासक्रीडा प्रारम्भ की॥२॥

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥ ३॥
यं मन्येरन् नभस्तावद् विमानशतसङ्कुलम्।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम्॥ ४॥

सम्पूर्ण योगों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियों के बीच में प्रकट हो गये और उनके गले में अपना हाथ डाल दिया। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, यही क्रम था। सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव करती थीं कि हमारे प्यारे तो हमारे ही पास हैं। इस प्रकार सहस्र-सहस्र गोपियों से शोभायमान भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य रासोत्सव प्रारम्भ हुआ। उस समय आकाश में

शत-शत विमानों की भीड़ लग गयी। सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियों के साथ वहाँ आ पहुँचे। रासोत्सव के दर्शन की लालसा से, उत्सुकता से उनका मन उनके वश में नहीं था ॥३-४॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम्॥ ५॥

स्वर्ग की दिव्य दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं। स्वर्गीय पुष्पों की वर्षा होने लगी। गन्धर्वगण अपनी-अपनी पत्नियों के साथ भगवान् के निर्मल यश का गान करने लगे ॥५॥

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले॥ ६॥

रासमण्डल में सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के साथ नृत्य करने लगीं। उनकी कलाइयों के कंगन, पैरों के पायजेब और करधनी के छोटे-छोटे घुँघरू एक साथ बज उठे। असंख्य गोपियाँ थीं, इसलिये यह मधुर ध्वनि भी बड़े ही जोर की हो रही थी ॥६॥

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा॥ ७॥

यमुनाजी की रमणरेती पर व्रजसुन्दरियों के बीच में भगवान् श्रीकृष्ण की बड़ी अनोखी शोभा हुई। ऐसा जान पड़ता था, मानो अगणित पीली-पीली दमकती हुई सुवर्ण-मणियों के बीच में ज्योतिर्मयी नीलमणि चमक रही हो ॥७॥

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः॥ ८॥

नृत्य के समय गोपियाँ तरह-तरह से ठुमुक-ठुमुककर अपने पाँव कभी आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेतीं। कभी गति के अनुसार धीरे-धीरे पाँव रखतीं, तो कभी बड़े वेग से; कभी चाक की तरह घूम जातीं, कभी अपने हाथ उठा-उठाकर भाव बतातीं, तो कभी विभिन्न प्रकार से उन्हें चमकातीं। कभी बड़े कलापूर्ण ढंग से मुसकरातीं, तो कभी भौंहें मटकातीं। नाचते-नाचते

उनकी पतली कमर ऐसी लचक जाती थी, मानो टूट गयी हो। झुकने, बैठने, उठने और चलने की फुर्ती से उनके स्तन हिल रहे थे तथा वस्त्र उड़े जा रहे थे। कानों के कुण्डल हिल-हिलकर कपोलों पर आ जाते थे। नाचने के परिश्रम से उनके मुँह पर पसीने की बूँदें झलकने लगी थीं। केशों की चोटियाँ कुछ ढीली पड़ गयी थीं। नीवी की गाँठें खुली जा रही थीं। इस प्रकार नटवर नन्दलाल की परम प्रेयसी गोपियाँ उनके साथ गा-गाकर नाच रही थीं। परीक्षित्! उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो बहुत-से श्रीकृष्ण तो साँवले-साँवले मेघ-मण्डल हैं और उनके बीच-बीच में चमकती हुई गोरी गोपियाँ बिजली हैं। उनकी शोभा असीम थी ॥८॥

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम्॥ ९॥

गोपियों का जीवन भगवान् की रति है, प्रेम है। वे श्रीकृष्ण से सटकर नाचते-नाचते ऊँचे स्वर से मधुर गान कर रही थीं। श्रीकृष्ण का संस्पर्श पा-पाकर और भी आनन्दमग्न हो रही थीं। उनके राग-रागिनियों से पूर्ण गान से यह सारा जगत् अब भी गूँज रहा है ॥९॥

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात्॥ १०॥

कोई गोपी भगवान् के साथ—उनके स्वर में स्वर मिलाकर गा रही थी। वह श्रीकृष्ण के स्वर की अपेक्षा और भी ऊँचे स्वर से राग अलापने लगी। उसके विलक्षण और उत्तम स्वर को सुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और वाह-वाह करके उसकी प्रशंसा करने लगे। उसी राग को एक दूसरी सखी ने ध्रुपद में गाया। उसका भी भगवान् ने बहुत सम्मान किया ॥१०॥

काचिद् रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका॥ ११॥

एक गोपी नृत्य करते-करते थक गयी। उसकी कलाइयों से कंगन और चोटियों से बेला के फूल खिसकने लगे। तब उसने अपने बगल में ही खड़े मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर के कंधे को अपनी बाँह से कसकर पकड़ लिया ॥११॥

किया ॥२० ॥

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।

प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्गपाणिना॥ २१॥

जब बहुत देर तक गान और नृत्य आदि विहार करने के कारण गोपियाँ थक गयीं, तब करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण ने बड़े प्रेम से स्वयं अपने सुखद करकमलों के द्वारा उनके मुँह पोंछे॥२१ ॥

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-

गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन।

मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि

पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः॥ २२॥

परीक्षित्! भगवान् के करकमल और नख स्पर्श से गोपियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने अपने उन कपोलों के सौन्दर्य से, जिन पर सोने के कुण्डल झिलमिला रहे थे और घुँघराली अलकें लटक रही थीं, तथा उस प्रेमभरी चितवन से, जो सुधा से भी मीठी मुसकान से उज्ज्वल हो रही थी, भगवान् श्रीकृष्ण का सम्मान किया और प्रभु की परम पवित्र लीलाओं का गान करने लगीं॥२२ ॥

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-

घृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।

गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद् वाः

श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः॥ २३॥

इसके बाद जैसे थका हुआ गजराज किनारों को तोड़ता हुआ हथिनियों के साथ जल में घुसकर क्रीडा करता है, वैसे ही लोक और वेद की मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले भगवान् ने अपनी थकान दूर करने के लिये गोपियों के साथ जलक्रीडा करने के उद्देश्य से यमुना के जल में प्रवेश किया। उस समय भगवान् की वनमाला गोपियों के अङ्ग की रगड़ से कुछ कुचल-सी गयी थी और उनके वक्षःस्थल की केसर से वह रँग भी गयी थी। उसके चारों ओर गुनगुनाते हुए भौंरे उनके पीछे-पीछे इस प्रकार चल रहे थे, मानो गन्धर्वराज उनकी कीर्ति का गान करते हुए पीछे-पीछे चल रहे हों॥२३ ॥

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः॥ २४॥

परीक्षित्! यमुनाजल में गोपियों ने प्रेमभरी चितवन से भगवान् की ओर देख-देखकर तथा हँस-हँसकर उन पर इधर-उधर से जल की खूब बौछारें डालीं। जल उलीच-उलीच कर उन्हें खूब नहलाया। विमानों पर चढ़े हुए देवता पुष्पों की वर्षा करके उनकी स्तुति करने लगे। इस प्रकार यमुनाजल में स्वयं आत्माराम भगवान् श्रीकृष्ण ने गजराज के समान जलविहार किया॥२४॥

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः॥ २५॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण व्रजवनिताओं और भौंरों की भीड़ से घिरे हुए यमुना तट के उपवन में गये। वह बड़ा ही रमणीय था। उसके चारों ओर जल और स्थल में बड़ी सुन्दर सुगन्ध वाले फूल खिले हुए थे। उनकी सुवास लेकर मन्द-मन्द वायु चल रही थी। उसमें भगवान् इस प्रकार विचरण करने लगे, जैसे मदमत्त गजराज हथिनियों के झुंड के साथ घूम रहा हो॥२५॥

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः॥ २६॥

परीक्षित्! शरद् की वह रात्रि जिसके रूप में अनेक रात्रियाँ पुञ्जीभूत हो गयी थीं, बहुत ही सुन्दर थीं। चारों ओर चन्द्रमा की बड़ी सुन्दर चाँदनी छिटक रही थी। काव्यों में शरद् ऋतु की जिन रस-सामग्रियों का वर्णन मिलता है, उन सभी से वह युक्त थी। उसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी प्रेयसी गोपियों के साथ यमुना के पुलिन, यमुनाजी और उनके उपवन में विहार किया। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं। यह सब उनके चिन्मय सङ्कल्प की ही चिन्मयी लीला है। और उन्होंने इस लीला में कामभाव को, उसकी चेष्टाओं को तथा उसकी क्रिया को सर्वथा अपने अधीन कर रक्खा था, उन्हें अपने-आप में कैद कर रक्खा था॥२६॥

राजोवाच

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः॥ २७॥

राजा परीक्षित् ने पूछा—भगवन्! भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत् के एकमात्र स्वामी हैं। उन्होंने अपने अंश श्रीबलरामजी के सहित पूर्णरूप में अवतार ग्रहण किया था। उनके अवतार का उद्देश्य ही यह था कि धर्म की स्थापना हो और अधर्म का नाश॥२७॥

स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥ २८॥

ब्रह्मन्! वे धर्ममर्यादा को बनाने वाले, उपदेश करने वाले और रक्षक थे। फिर उन्होंने स्वयं धर्म के विपरीत परस्त्रियों का स्पर्श कैसे किया? ॥२८॥

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत॥ २९॥

मैं मानता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम थे, उन्हें किसी भी वस्तु की कामना नहीं थी, फिर भी उन्होंने किस अभिप्राय से यह निन्दनीय कर्म किया? परम ब्रह्मचारी मुनीश्वर! आप कृपा करके मेरा यह सन्देह मिटाइये॥२९॥

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥ ३०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सूर्य, अग्नि आदि ईश्वर (समर्थ) कभी-कभी धर्म का उल्लङ्घन और साहस का काम करते देखे जाते हैं। परन्तु उन कामों से उन तेजस्वी पुरुषों को कोई दोष नहीं होता। देखो, अग्नि सब कुछ खा जाता है, परन्तु उन पदार्थों के दोष से लिप्त नहीं होता॥३०॥

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥ ३१॥

जिन लोगों में ऐसी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें मन से भी वैसी बात कभी नहीं सोचनी चाहिये, शरीर से करना तो दूर रहा। यदि मूर्खतावश कोई ऐसा

काम कर बैठे, तो उसका नाश हो जाता है। भगवान् शङ्कर ने हलाहल विष पी लिया था, दूसरा कोई पिये तो वह जलकर भस्म हो जायगा॥३१॥

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥ ३२॥

इसलिये इस प्रकार के जो शङ्कर आदि ईश्वर हैं, अपने अधिकार के अनुसार उनके वचन को ही सत्य मानना और उसी के अनुसार आचरण करना चाहिये। उनके आचरण का अनुकरण तो कहीं-कहीं ही किया जाता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि उनका जो आचरण उनके उपदेश के अनुकूल हो, उसी को जीवन में उतारे॥३२॥

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो॥ ३३॥

परीक्षित्! वे सामर्थ्यवान् पुरुष अहङ्कारहीन होते हैं, शुभ कर्म करने में उनका कोई सांसारिक स्वार्थ नहीं होता और अशुभ कर्म करने में अनर्थ (नुकसान) नहीं होता। वे स्वार्थ और अनर्थ से ऊपर उठे होते हैं॥३३॥

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः॥ ३४॥

जब उन्हीं के सम्बन्ध में ऐसी बात है तब जो पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता आदि समस्त चराचर जीवों के एकमात्र प्रभु सर्वेश्वर भगवान् हैं, उनके साथ मानवीय शुभ और अशुभ का सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है॥३४॥

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः॥ ३५॥

जिनके चरणकमलों के रज का सेवन करके भक्तजन तृप्त हो जाते हैं, जिनके साथ योग प्राप्त करके उसके प्रभाव से योगीजन अपने सारे कर्मबन्धन काट डालते हैं और विचारशील ज्ञानीजन जिनके तत्त्व का विचार करके तत्स्वरूप हो जाते हैं तथा समस्त कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरते हैं, वे ही भगवान् अपने भक्तों की इच्छा से अपना चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट

करते हैं; तब भला, उनमें कर्मबन्धन की कल्पना ही कैसे हो सकती है ॥३५॥

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥ ३६॥

गोपियों के, उनके पतियों के और सम्पूर्ण शरीरधारियों के अन्त:करणों में जो आत्मारूप से विराजमान हैं, जो सबके साक्षी और परमपति हैं, वही तो अपना दिव्य-चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करके यह लीला कर रहे हैं ॥३६॥

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ ३७॥

भगवान् जीवों पर कृपा करने के लिये ही अपने को मनुष्य रूप में प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ ॥३७॥

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥ ३८॥

व्रजवासी गोपों ने भगवान् श्रीकृष्ण में तनिक भी दोषबुद्धि नहीं की। वे उनकी योगमाया से मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही हैं ॥३८॥

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः॥ ३९॥

ब्रह्मा की रात्रि के बराबर वह रात्रि बीत गयी। ब्राह्ममुहूर्त आया। यद्यपि गोपियों की इच्छा अपने घर लौटने की नहीं थी, फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा से वे अपने-अपने घर चली गयीं। क्योंकि वे अपनी प्रत्येक चेष्टा से, प्रत्येक सङ्कल्प से केवल भगवान् को ही प्रसन्न करना चाहती थीं ॥३९॥

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥ ४०॥

परीक्षित्! जो धीर पुरुष व्रजवधुओं के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के इस चिन्मय रास-विलास का श्रद्धा के साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता

है, उसे भगवान् के चरणों में परा भक्ति की प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र अपने हृदय के रोग—कामविकार से छुटकारा पा जाता है। उसका कामभाव सर्वदा के लिये नष्ट हो जाता है॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः★ ॥३३॥

★ श्रीमद्भागवत में रासलीला के ये पाँच अध्याय उसके पाँच प्राण माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की परम अन्तरङ्ग लीला, निजस्वरूपभूता गोपिकाओं और ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी के साथ होने वाली भगवान् की दिव्यातिदिव्य क्रीडा, इन अध्यायों में कही गयी है। 'रास' शब्द का मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—'रसो वै सः'। जिस दिव्य क्रीडा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीडा करे—उसका नाम रास है। भगवान् की यह दिव्य लीला भगवान् के दिव्य धाम में दिव्यरूप से निरन्तर हुआ करती है। यह भगवान् की विशेष कृपा से प्रेमी साधकों के हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्य धाम के साथ ही भूमण्डल पर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान् की इस परम रसमयी लीला का आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान् की लीला में सम्मिलित होकर अपने को कृतकृत्य कर सकें। इस पञ्चाध्यायी में वंशीध्वनि, गोपियों के अभिसार, श्रीकृष्ण के साथ उनकी बातचीत, रमण, श्रीराधाजी के साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियों के द्वारा दिये हुए वसनासन पर विराजना, गोपियों के कूट प्रश्न का उत्तर, रासनृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहार का वर्णन है—जो मानवी भाषा में होने पर भी वस्तुतः परम दिव्य है।

समय के साथ ही मानव-मस्तिष्क भी पलटता रहता है। कभी

अन्तर्दृष्टि की प्रधानता हो जाती है और कभी बहिर्दृष्टि की। आज का युग ही ऐसा है, जिसमें भगवान् की दिव्य-लीलाओं की तो बात ही क्या, स्वयं भगवान् के अस्तित्व पर ही अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में इस दिव्य लीला का रहस्य न समझकर लोग तरह-तरह की आशङ्का प्रकट करें, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह लीला अन्तर्दृष्टि और मुख्यत: भगवत्कृपा से ही समझ में आती है। जिन भाग्यवान् और भगवत्कृपा प्राप्त महात्माओं ने इसका अनुभव किया है, वे धन्य हैं और उनकी चरण-धूलि के प्रताप से ही त्रिलोकी धन्य है। उन्हीं की उक्तियों का आश्रय लेकर यहाँ रासलीला के सम्बन्ध में यत्किञ्चित् लिखने की धृष्टता की जाती है।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान् का शरीर जीव-शरीर की भाँति जड़ नहीं होता। जड़ की सत्ता केवल जीव की दृष्टि में होती है, भगवान् की दृष्टि में नहीं। यह देह है और यह देही है, इस प्रकार का भेदभाव केवल प्रकृति के राज्य में होता है। अप्राकृत लोक में—जहाँ की प्रकृति भी चिन्मय है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; वहाँ अचित् की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान् की लीला की सिद्धि के लिये होती है। इसलिये स्थूलता में—या यों कहिये कि जडराज्य में रहने वाला मस्तिष्क जब भगवान् की अप्राकृत लीलाओं के सम्बन्ध में विचार करने लगता है, तब वह अपनी पूर्व वासनाओं के अनुसार जडराज्य की धारणाओं, कल्पनाओं और क्रियाओं का ही आरोप उस दिव्य राज्य के विषय में भी करता है, इसलिये दिव्यलीला के रहस्य को समझने में असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुत: परम उज्ज्वल रस का एक दिव्य प्रकाश है। जड जगत् की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत् में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्व में भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रस का लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रस की स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्ण प्रेमस्वरूपा गोपीजनों के मधुर हृदय में ही होती है। इस रासलीला के यथार्थ स्वरूप और परम माधुर्य का आस्वाद उन्हीं को मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान् के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी

ही हैं। साधना की दृष्टि से भी उन्होंने न केवल जड शरीर का ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने वाले स्वर्ग, कैवल्य से अनुभव होने वाले मोक्ष–और तो क्या, जडता की दृष्टि का भी त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टि में केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदय में श्रीकृष्ण को तृप्त करने वाला प्रेमामृत है। उनकी इस अलौकिक स्थिति में स्थूल शरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्ध से होने वाले अङ्ग–सङ्ग की कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धि से जकड़े हुए जीवों की ही होती है। जिन्होंने गोपियों को पहचाना है, उन्होंने गोपियों की चरणधूलि का स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शङ्कर, उद्धव और अर्जुन ने गोपियों की उपासना करके भगवान् के चरणों में वैसे प्रेम का वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करने की अभिलाषा की है। उन गोपियों के दिव्य भाव को साधारण स्त्री–पुरुष के भाव–जैसा मानना गोपियों के प्रति, भगवान् के प्रति और वास्तव में सत्य के प्रति महान् अन्याय एवं अपराध है। इस अपराध से बचने के लिये भगवान् की दिव्य लीलाओं पर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यता का स्मरण रखना परमावश्यक है।

भगवान् का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादान रहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप है। इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत् की भगवान् की स्वरूपभूता अन्तरङ्ग शक्तियाँ हैं। इन दोनों का सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भाव राज्य की लीला स्थूल शरीर और स्थूल मन से परे है।

प्राकृत देह का निर्माणक होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण–इन तीन देहों के संयोग से। जब तक 'कारण शरीर' रहता है, तब तक इस प्राकृत देह से जीव को छुटकारा नहीं मिलता। 'कारण शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मों के उन संस्कारों को, जो देह–निर्माण में कारण होते हैं। इस 'कारण शरीर' के आधार पर जीव को बार–बार जन्म–मृत्यु के चक्कर में पड़ना होता है और यह चक्र जीव की मुक्ति न होने तक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होने तक चलता ही रहता है। इसी कर्मबन्धन के कारण पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर मिलता है–जो रक्त, मांस, अस्थि आदि से भरा और चमड़े से ढका होता है।

प्रकृति के राज्य में जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दु के संयोग से ही बनते हैं; फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुन से उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरिता महापुरुष के सङ्कल्प से, बिन्दु के अधोगामी होने पर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुन से हो, अथवा बिना ही मैथुन के नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदि के स्पर्श से, बिना ही स्पर्श के केवल दृष्टिमात्र से अथवा बिना देखे केवल सङ्कल्प से ही उत्पन्न हो। ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या पुरुष-शरीर के बिना भी उत्पन्न होने वाले) सभी शरीर हैं योनि और बिन्दु के संयोगजनित ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। इसी प्रकार योगियों के द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परन्तु वे भी हैं प्राकृत ही। पितर या देवों के दिव्य कहलाने वाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलय में भी नष्ट नहीं होते। और भगवद्देह तो साक्षात् भवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थि वाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्ण का भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे। वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तम का भेद नहीं है। श्रीकृष्ण का एक-एक अङ्ग पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण का मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्ण का पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण की सभी इन्द्रियों से सभी कर्म हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथों से देख सकते हैं, आँखों से चल सकते हैं। श्रीकृष्ण का सब कुछ श्रीकृष्ण होने के कारण वह सर्वथा पूर्णतम हैं। इसी से उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपने को ही आकर्षित कर लेती है। फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्य से गौ-हरिन और वृक्ष-बेल पुलकित हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान् के ऐसे स्वरूपभूत शरीर से गंदा मैथुन कर्म सम्भव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है, उससे क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्त में शुक्र बनता है; इसी शुक्र के आधार पर शरीर रहता है और मैथुनक्रिया

में इसी शुक्र का क्षरण हुआ करता है। भगवान् का शरीर न तो कर्मजन्य है, न मैथुनी सृष्टि का है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं; अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिये उससे प्राकृत पाञ्चभौतिक शरीरों वाले स्त्री-पुरुषों के रमण या मैथुन की कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान् को उपनिषद् में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' कहा गया है और इसी से भागवत में उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं। फिर कोई शङ्का करे कि उनके सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी भागवती सृष्टि थी, भगवान् के सङ्कल्प से हुई थी। भगवान् के शरीर में जो रक्त-मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान् की योगमाया का चमत्कार है। इस विवेचन से भी यही सिद्ध होता है कि गोपियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण का जो रमण हुआ वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राज्य की लीला है, लौकिक काम-क्रीडा नहीं।

× × × ×

इन गोपियों की साधना पूर्ण हो चुकी है। भगवान् ने अगली रात्रि में उनके साथ विहार करने का प्रेम सङ्कल्प कर लिया है। इसी के साथ उन गोपियों को भी जो नित्यसिद्धा हैं, जो लोकदृष्टि में विवाहित भी हैं, इन्हीं रात्रियों में दिव्य-लीला में सम्मिलित करना है। वे अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान् की दृष्टि के सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियों को देखा। 'भगवान् ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टि के प्रारम्भ में 'स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।'—भगवान् के इस ईक्षण से जगत् की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रास के प्रारम्भ में प्रेमवीक्षण से शरत्काल की दिव्य रात्रियों की सृष्टि होती है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपन सामग्री भगवान् के द्वारा वीक्षित हैं अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत हैं। गोपियों ने अपना मन श्रीकृष्ण के मन में मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेम-दान करने वाले श्रीकृष्ण ने विहार के लिये नवीन मन की, दिव्य मन की सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की यही योगमाया है, जो रासलीला के लिये दिव्य स्थल, दिव्य

सामग्री एवं दिव्य मन का निर्माण किया करती है। इतना होने पर भगवान् की बाँसुरी बजती है।

भगवान् की बाँसुरी जड को चेतन, चेतन को जड, चल को अचल और अचल को चल, विक्षिप्त को समाधिस्थ और समाधिस्थ को विक्षिप्त बनाती रहती है। भगवान् का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्सङ्कल्प, निश्चिन्त होकर घर के कार्यों में लगी हुई थीं। कोई गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा—धर्म के कार्मो में लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि अर्थ के कर्मो में लगी हुई थी, कोई साज-शृङ्गार आदि कार्यो के साधन में व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्ष साधन में लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने-अपने कार्यो में, परन्तु वास्तव में वे उनमें से एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्म की पूर्णता पर उनका ध्यान नहीं गया; कर्म पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं उस साधक संन्यासी के समान, जिसका हृदय वैराग्य की प्रदीप्त ज्वाला से परिपूर्ण है। किसी ने किसी से पूछा नहीं, सलाह नहीं की; अस्त-व्यस्त गति से जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्ण के पास पहुँच गयी।

भगवान् ने गीता में एक जगह अर्जुन से कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(३। २२-२५)

'अर्जुन! यद्यपि तीनों लोकों में मुझे कुछ भी करना नहीं है, और न मुझे किसी वस्तु को प्राप्त ही करना है, जो मुझे न प्राप्त हो; तो भी मैं कर्म करता ही हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो अर्जुन! मेरी देखा-देखी

लोग कर्मों को छोड़ बैठें और यों मेरे कर्म न करने से ये सारे लोक भ्रष्ट हो जायँ तथा मैं इन्हें वर्णसङ्कर बनाने वाला और सारी प्रजा का नाश करने वाला बनूँ। इसलिये मेरे इस आदर्श के अनुसार अनासक्त ज्ञानी पुरुष को भी लोकसंग्रह के लिये वैसे ही कर्म करना चाहिये, जैसे कर्म में आसक्त अज्ञानी लोग करते हैं।'

यहाँ भगवान् आदर्श लोकसंग्रही महापुरुष के रूप में बोलते हैं, लोकनायक बनकर सर्वसाधारण को शिक्षा देते हैं। इसीलिये स्वयं अपना उदाहरण देकर लोगों को कर्म में प्रवृत्त करना चाहते हैं। ये ही भगवान् उसी गीता में जहाँ अन्तरङ्गता की बात कहते हैं, वहाँ स्पष्ट कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(१८। ६६)

'सारे धर्मों का त्याग करके तू केवल एक मेरी शरण में आ जा।'

यह बात सबके लिये नहीं है। इसी से भगवान् १८।६४ में इसे सबसे बढ़कर छिपी हुई गुप्त बात (सर्वगुह्यतम) कहकर इसके बाद के ही श्लोक में कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(१८। ६७)

'भैया अर्जुन! इस सर्वगुह्यतम बात को जो इन्द्रिय-विजयी तपस्वी न हो, मेरा भक्त न हो, सुनना न चाहता हो और मुझमें दोष लगाता हो, उसे न कहना!'

श्रीगोपीजन साधना के इसी उच्च स्तर में परम आदर्श थीं। इसी से उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उल्लङ्घन कर, एकमात्र परमधर्म स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को ही पाने के लिये अभिसार किया था। उनका यह पति-पुत्रों का त्याग, यह सर्वधर्म का त्याग ही उनके स्तर के अनुरूप स्वधर्म है।

यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरं तृप्तिमूलक है। भगवत्प्रेम की ऊँची स्थिति का यही स्वरूप है। देवर्षि नारदजी का एक सूत्र है—

'वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।'

'जो वेदों का (वेदमूलक समस्त धर्म मर्यादाओं का) भी भलीभाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड, असीम भगवत्प्रेम को प्राप्त करता है।'

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुलायें, वह भला, किसी दूसरे धर्म की ओर ताककर कब और कैसे रुक सकता है।

रोकने वालों ने रोका भी, परन्तु हिमालय से निकलकर समुद्र में गिरने वाली ब्रह्मपुत्र नदी की प्रखर धारा को क्या कोई रोक सकता है? वे न रुकीं, नहीं रोकी जा सकीं। जिनके चित्त में कुछ प्राक्तन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनधिकार के कारण सशरीर जाने में समर्थ न हुईं। उनका शरीर घर में पड़ा रह गया, भगवान् के वियोग-दुःख से उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यान में प्राप्त भगवान् के प्रेमालिङ्गन से उनके समस्त सौभाग्य का परमफल प्राप्त हो गया और वे भगवान् के पास सशरीर जाने वाली गोपियों के पहुँचने से पहले ही भगवान् के पास पहुँच गयीं। यह शास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्य के कारण ही बन्धन होता है और शुभाशुभ का भोग होता है। शुभाशुभ कर्मों के भोग से जब पाप-पुण्य दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब जीव की मुक्ति हो जाती है। यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्य से रहित श्रीभगवान् की प्रेम-प्रतिमा स्वरूपा थीं, तथापि लीला के लिये यह दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के पास न जा सकने से, उनके विरहानल से उनको इतना महान् सन्ताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभ का भोग हो गया, उनके समस्त पाप नष्ट हो गये। और प्रियतम भगवान् के ध्यान से उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्यों का फल मिल गया। इस प्रकार पाप-पुण्यों का पूर्णरूप से अभाव होने से उनकी मुक्ति हो गयी। चाहे किसी भी भाव से हो—काम से, क्रोध से, लोभ से—जो भगवान् के मङ्गलमय श्रीविग्रह का चिन्तन करता है, उसके भाव की अपेक्षा न करके वस्तु शक्ति से ही उसका कल्याण हो जाता है। यह भगवान् के श्रीविग्रह की विशेषता है।

भगवान् हैं बड़े लीलामय। जहाँ वे अखिल विश्व के विधाता ब्रह्मा-शिव आदि के भी वन्दनीय, निखिल जीवों के प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियों के इशारे पर नाचने वाले भी हैं। उन्हीं की इच्छा से, उन्हीं के प्रेमाह्वान

से, उन्हीं के वंशी-निमन्त्रण से प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं; परन्तु उन्होंने ऐसी भावभङ्गी प्रकट की, ऐसा स्वाँग बनाया, मानो उन्हें गोपियों के आने का कुछ पता ही न हो। शायद गोपियों के मुँह से वे उनके हृदय की बात, प्रेम की बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भ के द्वारा उनके मिलन-भाव को परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा मालूम होता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इसलिये साधारण लोगों के लिये उपदेश और गोपियों का अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—'गोपियों! व्रज में कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रि में यहाँ आने का कारण क्या है? घर वाले ढूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वन की शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ों का भी ध्यान करो। धर्म के अनुकूल मोक्ष के खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियों की सेवा छोड़कर वन में दर-दर भटकना स्त्रियों के लिये अनुचित है। स्त्री को अपने पति की ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो। यही सनातन धर्म है। इसी के अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो। परन्तु प्रेम में शारीरिक सन्निधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण, दर्शन और ध्यान से सान्निध्य की अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ, तुम सनातन सदाचार का पालन करो। इधर-उधर मन को मत भटकने दो।'

श्रीकृष्ण की यह शिक्षा गोपियों के लिये नहीं, सामान्य नारी-जाति के लिये है। गोपियों का अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करने के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसे वचन कहे थे। इन्हें सुनकर गोपियों की क्या दशा हुई और इसके उत्तर में उन्होंने श्रीकृष्ण से क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्ण को मनुष्य नहीं मानतीं, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूप को भलीभाँति जानती हैं, इस बात का कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूल में ही पाठ करने योग्य है। सचमुच जिनके हृदय में भगवान् के परमतत्त्व का वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान् के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सचाई के साथ जिनकी वाणी में वैसे उद्गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियों की प्रार्थना से यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्ण को अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्मा के रूप में पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा

या माता-पिता के रूप में श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं, वैसे ही वे पति के रूप में श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं, जो कि शास्त्रों में मधुर भाव के—उज्ज्वल परम रस के नाम से कहा गया है। जब प्रेम के सभी भाव पूर्ण होते हैं और साधकों को स्वामि-सखादि के रूप में भगवान् मिलते हैं, तब गोपियों ने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप है—न पूर्ण हो? भगवान् ने उनका भाव पूर्ण किया और अपने को असंख्य रूपों में प्रकट करके गोपियों के साथ क्रीडा की। उनकी क्रीडा का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः'। जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जल में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के साथ खेलता है, वैसे ही रमेश भगवान् और व्रजसुन्दरियों ने रमण किया। अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरस-स्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी ह्लादिनी-शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्ति से उत्पन्न अपनी गोपियों से आत्मक्रीड़ा की। इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीड़ा का नाम ही रास है। इसमें न कोई जड़ शरीर था, न प्राकृत अङ्ग-सङ्ग था, और न इसके सम्बन्ध की प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं। यह था चिदानन्दमय भगवान् का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाम में सर्वदा होते रहने पर भी कभी-कभी प्रकट होता है।

वियोग ही संयोग का पोषक है, मान और मद ही भगवान् की लीला में बाधक हैं। भगवान् की दिव्य लीला में मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसीलिये होते हैं कि उनसे लीला में रस की और भी पुष्टि हो। भगवान् की इच्छा से ही गोपियों में लीलानुरूप मान और मद का सञ्चार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदय में लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मान का संस्कार शेष है, वे भगवान् के सम्मुख रहने के अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवान् के पास रहने पर भी दर्शन नहीं कर सकते। परन्तु गोपियाँ गोपियाँ थीं, उनसे जगत् के किसी प्राणी की तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान् के वियोग में गोपियों की क्या दशा हुई, इस बात को रासलीला का प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियों के शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं—सब

श्रीकृष्ण में एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्माद का वह गीत, जो उनके प्राणों का प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी भावुक भक्तों को भावमग्न करके भगवान् के लीलालोक में पहुँचा देता है। एक बार सरस हृदय से हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करने मात्र से ही यह गोपियों की महत्ता सम्पूर्ण हृदय में भर देता है। गोपियों के उस 'महाभाव'—उस 'अलौकिक प्रेमोन्माद' को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके, उनके सामने 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' रूप से प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया कि 'गोपियो, मैं तुम्हारे प्रेमभाव का चिर-ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्त काल तक तुम्हारी सेवा करता रहूँ, तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होने का प्रयोजन तुम्हारे चित्त को दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेम को और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीड़ा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्म शास्त्र का स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि योगसिद्धि प्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूह के द्वारा एक साथ अनेक शरीरों का निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानों पर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवगण एक ही समय अनेक स्थानों पर उपस्थित होकर अनेक यज्ञों में युगपत् आहुति स्वीकार कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरों के ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियों के साथ क्रीड़ा करें, तो भी इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है? जो लोग भगवान् को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वही अनेकों प्रकार की शङ्का-कुशङ्काएँ करते हैं। भगवान् की निज लीला में इन तर्कों का सर्वथा प्रवेश नहीं है।

ऐसी स्थिति में 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अङ्ग-सङ्ग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जारभाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं; परन्तु उनमें परकीया-भाव था। परकीया होने में और परकीया भाव होने में आकाश-पाताल का अन्तर है। परकीया भाव में तीन बातें बड़े महत्त्व की होती हैं— अपने प्रियतम का निरन्तर चिन्तन, मिलन की उत्कट उत्कण्ठा और दोषदृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीया भाव में निरन्तर एक

साथ रहने के कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं; परन्तु परकीया-भाव में ये तीनों भाव बने रहते हैं। कुछ गोपियाँ जारभाव से श्रीकृष्ण को चाहती थीं, इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलने के लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्ण के प्रत्येक व्यवहार को प्रेम की आँखों से ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्व का और है-वह यह कि स्वकीया अपने घर का, अपना और अपने पुत्र एवं कन्याओं का पालन-पोषण, रक्षणावेश पति से चाहती है। वह समझती है कि इनकी देखरेख करना पति का कर्तव्य है; क्योंकि ये सब उसी के आश्रित हैं, और वह पति से ऐसी आशा भी रखती है। कितनी ही पतिपरायण क्यों न हो, स्वकीया में यह सकाम भाव छिपा रहता ही है। परन्तु परकीया अपने प्रियतम से कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती; वह तो केवल अपने को देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियों में यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषता के कारण संस्कृत-साहित्य के कई ग्रन्थों में निरन्तर चिन्तन के उदाहरणस्वरूप परकीया भाव का वर्णन आता है।

गोपियों के इस भाव के एक नहीं, अनेक दृष्टान्त श्रीमद्भागवत में मिलते हैं। जिसके जीवन में साधारण धर्म की एक हल्की-सी प्रकाश रेखा आ जाती है, उसी का जीवन परम पवित्र और दूसरों के लिये आदर्श-स्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधना की चरम सीमा पर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान् की स्वरूपभूता हैं, या जिन्होंने कल्पों तक साधना करके श्रीकृष्ण की कृपा से उनका सेवाधिकार प्राप्त कर लिया है, सदाचार का उल्लङ्घन कैसे कर सकती हैं। और समस्त धर्म-मर्यादाओं के संस्थापक श्रीकृष्ण पर धर्मोल्लंङ्घन का लाञ्छन कैसे लगाया जा सकता है? श्रीकृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध में इस प्रकार की कुकल्पनाएँ उनके दिव्य स्वरूप और दिव्य लीला के विषय में अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवत पर, दशम स्कन्ध पर और रासपञ्चाध्यायी पर अब तक अनेकानेक भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं—जिनके लेखकों में जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीवगोस्वामी आदि हैं। उन लोगों ने बड़े विस्तार से रासलीला की महिमा समझायी है। किसी ने इसे काम पर विजय

बतलाया है, किसी ने भगवान् का दिव्य विहार बतलाया है और किसी ने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाह रूप से निरन्तर आत्मरमण ही रास है। किसी भी दृष्टि से देखें, रासलीला की महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है।

परन्तु इससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रीमद्भागवत में वर्णित रास या रमण-प्रसङ्ग केवल रूपक या कल्पनामात्र है। वह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है, वैसा ही मिलन-विलासादि रूप शृङ्गार का रसास्वादन भी हुआ था। भेद इतना ही है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषों का मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्द विग्रह, परात्पर तत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरङ्कुश स्वेच्छाविहारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन; और नायिका थीं स्वयं ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी और उनकी कायव्यहूरूपा, उनकी घनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन। अतएव इनकी यह लीला अप्राकृत थी। सर्वथा मीठी मिश्री की अत्यन्त कड़ुए इन्द्रायण (तूँबे)-जैसी कोई आकृति बना ली जाय, जो देखने में ठीक तूँबे-जैसी ही मालूम हो; परन्तु इससे असल में क्या वह मिश्री का तूँबा कड़ुवा थोड़े ही हो जाता है? क्या तूँबे के आकार की होने से ही मिश्री के स्वाभाविक गुण मधुरता का अभाव हो जाता है? नहीं-नहीं, वह किसी भी आकार में हो—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा केवल मिश्री-ही-मिश्री है। बल्कि इसमें लीला-चमत्कार की बात जरूर है। लोग समझते हैं कड़ुआ तूँबा, और होती है वह मधुर मिश्री। इसी प्रकार अखिल रसामृत सिन्धु सच्चिदानन्द विग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरङ्गा अभिन्न स्वरूपा गोपियों की लीला भी देखने में कैसी ही क्यों न हो, वस्तुतः वह सच्चिदानन्दमयी ही है। उसमें सांसारिक गंदे काम का कड़ुवा स्वाद है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस लीला की नकल किसी को नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। मायिक पदार्थों के द्वारा मायातीत भगवान् का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है? कड़ुए तूँबे को चाहे जैसी सुन्दर मिठाई की आकृति दे दी जाय, उसका कड़ुआपन कभी मिट नहीं सकता। इसीलिये जिन मोहग्रस्त मनुष्यों ने श्रीकृष्ण की रास आदि अन्तरङ्ग-लीलाओं का अनुकरण करके नायक-नायिका रसास्वादन करना

चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा। श्रीकृष्ण की इन लीलाओं का अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं। इसीलिये शुकदेवजी ने रासपञ्चाध्यायी के अन्त में सबको सावधान करते हुए कह दिया है कि भगवान् के उपदेश तो सब मानने चाहिये, परन्तु उनके सभी आचरणों का अनुकरण नहीं करना चाहिये।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्ण को केवल मनुष्य मानते हैं और केवल मानवीय भाव एवं आदर्श की कसौटी पर उनके चरित्र को कसना चाहते हैं वे पहले ही शास्त्र से विमुख हो जाते हैं, उनके चित्त में धर्म की कोई धारणा ही नहीं रहती और वे भगवान् को भी अपनी बुद्धि के पीछे चलाना चाहते हैं। इसलिये साधकों के सामने उनकी उक्ति-युक्तियों का कोई महत्त्व ही नहीं रहता। जो शास्त्र के 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं' इस वचन को नहीं मानता, वह उनकी लीलाओं को किस आधार पर सत्य मानकर उनकी आलोचना करता है—यह समझ में नहीं आता। जैसे मानव धर्म, देवधर्म और पशुधर्म पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवद्धर्म भी पृथक् होता है और भगवान् के चरित्र का परीक्षण उसकी ही कसौटी पर होना चाहिये। भगवान् का एकमात्र धर्म है—प्रेमपरवशता, दयापरवशता और भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति। यशोदा के हाथों से ऊखल में बँध जाने वाले श्रीकृष्ण अपने निजजन गोपियों के प्रेम के कारण उनके साथ नाचें, यह उनका सहज धर्म है।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्ण का चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शों के अनुकूल ही होना चाहिये, तो इसमें भी कोई आपत्ति की बात नहीं है। श्रीकृष्ण की अवस्था उस समय दस वर्ष के लगभग थी, जैसा कि भागवत में स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवों में रहने वाले बहुत-से दस वर्ष के बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें कामवृत्ति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध का कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्यौहार मनाते हैं, गुड्डई-गुड्डए की शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपस में भोज-भात भी करते हैं। गाँव के बड़े-बड़े लोग बच्चों का यह मनोरञ्जन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मन में किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चों को युवती स्त्रियाँ भी बड़े प्रेम से देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती

हैं, खिलाती हैं। यह तो साधारण बच्चों की बात है। श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण धी-शक्तिसम्पन्न बालक जिनके अनेक सद्‌गुण बाल्यकाल में ही प्रकट हो चुके थे; जिनकी सम्मति, चातुर्य्य और शक्ति से बड़ी-बड़ी विपत्तियों से व्रजवासियों ने त्राण पाया था; उनके प्रति वहाँ की स्त्रियों, बालिकाओं और बालकों का कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य से आकृष्ट होकर गाँव की बालक-बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभा से राग, ताल आदि नये-नये ढंग से उनका मनोरञ्जन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरञ्जनों में से रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्ण को केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टि में भी यह दोष की बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमानी के साथ भागवत में आये हुए काम-रति आदि शब्दों का ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीता में इन शब्दों का अर्थ होता है। वास्तव में गोपियों के निष्कपट प्रेम का ही नामान्तर काम है और भगवान् श्रीकृष्ण का आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीड़ा ही रति है। इसीलिये स्थान-स्थान पर उनके लिये विभु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वर, आत्माराम, मन्मथमन्मथ आदि शब्द आये हैं-जिससे किसी को कोई भ्रम न हो जाय।

जब गोपियाँ श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि सुनकर वन में जाने लगी थीं, तब उनके सगे-सम्बन्धियों ने उन्हें जाने से रोका था। रात में अपनी बालिकाओं को भला, कौन बाहर जाने देता, फिर भी वे चली गयीं और इससे घर वालों को किसी प्रकार की अप्रसन्नता नहीं हुई। और न तो उन्होंने श्रीकृष्ण पर या गोपियों पर किसी प्रकार का लाञ्छन ही लगाया। उनका श्रीकृष्ण पर, गोपियों पर विश्वास था और वे उनके बचपन और खेलों से परिचित थे। उन्हें तो ऐसा मालूम हुआ मानो गोपियाँ हमारे पास ही हैं। इसको दो प्रकार से समझ सकते हैं। एक तो यह कि श्रीकृष्ण के प्रति उनका इतना विश्वास था कि श्रीकृष्ण के पास गोपियों का रहना भी अपने ही पास रहना है। यह तो मानवीय दृष्टि है। दूसरी दृष्टि यह कि श्रीकृष्ण की योगमाया ने ऐसी व्यवस्था कर रक्खी थी कि गोपों को वे घर में ही दीखती थीं। किसी भी दृष्टि से रासलीला दूषित प्रसङ्ग

नहीं है, बल्कि अधिकारी पुरुषों के लिये तो यह सम्पूर्ण मनोमल को नष्ट करने वाला है। रासलीला के अन्त में कहा गया है कि जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रासलीला का श्रवण और वर्णन करता है, उसके हृदय का रोग काम बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसे भगवान् का प्रेम प्राप्त होता है। भागवत में अनेक स्थान पर ऐसा वर्णन आता है कि जो भगवान् की माया का वर्णन करता है, वह माया से पार हो जाता है। जो भगवान् के कामजय का वर्णन करता है, वह काम पर विजय प्राप्त करता है। राजा परीक्षित् ने अपने प्रश्नों में जो शङ्काएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नों के अनुरूप ही अध्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अध्याय ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजी ने दिया है।

उस उत्तर से वे शङ्काएँ तो हट गयी हैं, परन्तु भगवान् की दिव्य लीला का रहस्य नहीं खुलने पाया; सम्भवतः उस रहस्य को गुप्त रखने के लिये ही ३३ वें अध्याय में रासलीला प्रसङ्ग समाप्त कर दिया गया। वस्तुतः इस लीला के गूढ़ रहस्य की प्राकृत-जगत् में व्याख्या की भी नहीं जा सकती। क्योंकि यह इस जगत् की क्रीड़ा ही नहीं है। यह तो उस दिव्य आनन्दमय रसमय राज्य की चमत्कारमयी लीला है, जिसके श्रवण और दर्शन के लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं। कुछ लोग इस लीला प्रसंग को भागवत में क्षेपक मानते हैं, वे वास्तव में दुराग्रह करते हैं। क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियों में भी यह प्रसंग मिलता है और जरा विचार करके देखने से यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हम लोग इसका कुछ रहस्य समझने में समर्थ हों।

भगवान् के इस दिव्य-लीला के वर्णन का यही प्रयोजन है कि जीव गोपियों के उस अहैतुक प्रेम का, जो कि श्रीकृष्ण को ही सुख पहुँचाने के लिये था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान् के रसमय दिव्य लीलालोक में भगवान् के अनन्त प्रेम का अनुभव करे। हमें रासलीला का अध्ययन करते समय किसी प्रकार की भी शङ्का न करके इस भाव को जगाये रखना चाहिये।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीगोविन्दलीलामृतम्

द्वाविंशति सर्गः

तावुत्कौ लब्धसङ्गौ बहुपरिचरणैर्वृन्दया राध्यमाणौ
प्रेष्ठालीभिर्लसन्तौ विपिनविहरणैर्गानरासादिलास्यैः।
नानालीलानितान्तौ प्रणयिसहचरीवृन्दसंसेव्यमानौ
राधाकृष्णौ निशायां सुकुसुमशयने प्राप्तनिद्रौ स्मरामि ॥१ ॥

जो श्रीराधागोविन्द प्रदोषकाल में परस्पर मिलन के लिए उत्कण्ठित होने के अनन्तर अब मिले हुए हैं एवं प्रिय सखी-समूह सहित वृन्दादेवी के बहुविध सेवा द्वारा आराधित हैं, तथा उन सखियों के सङ्ग वनविहार, गान व रास नृत्यादि में अत्यन्त श्रान्त होने पर प्रणयवती सहचारियों के व्यजन, कर्पूर, जल, ताम्बूल, पाद-सम्वाहन आदि सेवा द्वारा सेवित होकर निशाकाल में कुसुम-शय्या पर शयन करते हैं, मैं उन श्रीराधाकृष्ण का स्मरण करता हूँ॥१ ॥

वृन्दा सवृन्दाथ सहालिवृन्दौ वृन्दावनेशावनुनाथ्य नाथौ।
तदालयालिन्दमनिन्दशोभं पूर्णेन्दुकान्त्युज्ज्वलितं निनाय ॥२ ॥

पूर्व सर्ग के १२५ वें श्लोक में वर्णित लीला के अनन्तर श्रीवृन्दादेवी अपने गण सहित श्रीवृन्दावन के अधीश्वर श्रीराधाकृष्ण से प्रार्थना कर उनको उस रत्नमन्दिर के बरामदे पर पधारकर ले गयीं। वह बरामदा उत्कृष्ट शोभायुक्त एवं पूर्णचन्द की ज्योत्स्ना से उज्ज्वल बना हुआ था॥२ ॥

सा तत्र तौ पुष्पचितान्तरायां ससूक्ष्मवस्त्रास्तरणान्वितायाम्।
कलिन्दकन्यानिलशीतलायां न्यवीविशत् काञ्चनवेदिकायाम् ॥३

वहाँ उसके मध्यभाग में काञन-वेदी पर उनको विराजमान कराया। वह वेदी सूक्ष्मवस्त्र द्वारा आच्छादित एवं कलिन्दकन्या यमुना स्पर्शकारी पवन से शीतल थी॥३ ॥

आवेशनादालिगणोपनीतैर्विचित्रपुष्पाभरणैश्च माल्यैः।
ताम्बूलगन्धव्यजनैः सुतोयैः सा तौ निजेशौ सगणौ सिषेवे ॥४ ॥

तब शिल्पशाला से सखियों द्वारा लायी हुई विचित्र कुसुमालङ्कार, माला, ताम्बूल, गन्ध, व्यजन व शीतल जल से वृन्दादेवी ने निजेश्वर श्रीराधाकृष्ण की यथोचित सेवा की ॥४॥

तत्काननं तां रजनीं प्रियास्ताः
कृष्णां च तां तत्पुलिनानि तानि।
समीक्ष्य कृष्णो हृदि जातयाभवत्
स प्रेरितो रासविलासवांछया ॥५॥

इधर श्रीकृष्ण ऐसी रजनी, प्रिया वर्ग व पुलिन का अवलोकन कर हृदय में उत्पन्न रासविलास की वाञ्छा से प्रेरित हुए अर्थात् इन सबके दर्शन से उनके हृदय में रासविलास की इच्छा उदय हुई ॥५॥

सगणोऽरण्यविहृतिश्चक्रभ्रमणनर्त्तनम्।
हल्लीसकं युग्मनृत्यं ताण्डवं लास्यमेककम् ॥६॥
तत्तत् प्रबन्धगानञ्च सनृत्यं रतिनर्म्मणी।
जलखेलेत्यमुन्येष रासाङ्गानि व्यधात् क्रमात् ॥७॥
॥ द्वाभ्यामन्वयः॥

रासलीला के अङ्गों का वर्णन; श्रीकृष्ण ने रास में क्या क्या विषय होङ्गे, उनका क्रम से विधान किये, तथा समस्त गण सहित वन-विहार, चक्रभ्रमण सहित नृत्य, हल्लीसक (स्त्रियों का मण्डल-नृत्य) युग्मनृत्य (स्त्री-पुरुष की लोड़ी का नृत्य) ताण्डव (पुरुष-नृत्य) लास्य (स्त्री-नृत्य), एकाकी नृत्य, सखियों के रचित प्रबन्ध-गान, नृत्य, रति, परिहास व जलकेलि इत्यादि रास के अनेक अङ्गों का विधान किया ॥६-७॥

ज्योत्स्नोज्ज्वलं मन्दसमीरवेल्लितं स्वसङ्गमोद्दीप्तवसन्तजृम्भितम्।
नृत्यन्मयूरं पिक-भृङ्गनादितं वनं समीक्ष्यात्र विहर्त्तुमैच्छत् ॥८॥

अब श्रीकृष्ण ने वन में विहार करने की इच्छा की। वन की शोभा वर्णन करते हैं कि ज्योत्स्ना से उज्ज्वल व मन्द-मन्द वायु के झोकों से चञ्चल बना हुआ था। श्रीकृष्ण के सङ्गम से उद्दीप्त (अतिशय शोभायमान) एवं बसन्त की शोभा से समृद्ध था अर्थात् नवीन पल्लव, पुष्पादि से सुशोभित था जहाँ तहाँ मोर नाच रहे थे, कोयलें गा रही थीं और भौंरे गुञ्जार कर रहे थे। ऐसे वन के दर्शन करके उस में विहार करने की इच्छा हुई ॥८॥

वंशीगानेन तास्वेष ज्ञापयामास वाञ्छितम्।
तन्नाम्नैवानुगानेन स ताभिश्चानुमोदितः ॥९ ॥

तब श्रीकृष्ण ने वंशी–गान के द्वारा अपनी अभिलाषा को गोपियों को जनाया और गोपियों के प्रत्युत्तर में कृष्णनामयुक्त गीत गाकर उसका अनुमोदन किया ॥९ ॥

काननने सुधांसुकान्तिशुभ्रमञ्जुविग्रहे
पुष्पिते समन्त्त्वयाद्य मे प्रियालिवर्ग हे!।
रन्तुमत्र वाञ्छितानि चित्तवृत्तिरुद्वहे
देवमस्तु कृष्ण कृष्ण कृष्ण कान्त हे! ॥१० ॥

अनुमोदन का प्रकार :–

हे प्रियतमाओं! इस कानन में आज तुम लोगों के साथ विहार करने के लिए मेरे चित्त में अनेक प्रकार की अभिलाषाएँ उदय हो रही हैं। अहा! इस समय वृक्ष व लताओं के अङ्ग चन्द्रमा की किरणमालाओं से शुभ्र व मनोहर हो रहे हैं। यह प्रस्ताव श्रवण कर सखियों सब प्रफुल्लित होकर बोल उठीं हे कृष्ण! ऐसा ही होवे। हे कान्त! ऐसा ही होवे (सखियाँ अनेक होने के कारण सम्बोधन पद अनेक हैं)॥१० ॥

उत्थितः स्वरमणीगणसङ्गी वृन्दयाप्यनुगतो मृदुगायन्।
प्रत्यगं प्रतिलतं प्रतिकुञ्जं स प्रदक्षिणतया भ्रमति स्म ॥११ ॥

प्रथम वनविहार वर्णन करते हैं :– गोपियों के ऐसे उत्तर को श्रवण कर श्रीकृष्ण अपनी रमणियों के सहित उठे और मृदु मृदुस्वर से गान करते हुए प्रति वृक्ष, प्रतिलता एवं प्रतिकुञ्ज की प्रदक्षिणा करते करते भ्रमण करने लगे वृन्दादेवी भी उनका अनुगमनकरने लगी ॥११ ॥

मृदुमलयानिलैजितलतातरुपत्रचयं
सुमधुरपञ्चमध्वनिकलाचनकोकिलकम्।
ध्वनदलिबर्हिणं प्रणयिनीगणगीतगुणो
वनमवगाह्य तत्सरमते हरिरत्र मुदा ॥१२ ॥

अपने गुण–गान करती हुई प्रणयिनी गोपियों के साथ श्रीकृष्ण वन में प्रवेश कर आनन्द पूर्वक विहार करने लगे। उस काल में, सुमधुर पञ्चम स्वर में गान–निपुण कोयल बोलने लगे, एवं भ्रमर गुञ्जारने व मोर केका ध्वनि करने लगे ॥१२ ॥

मूर्च्छोत्थिता इव पुनर्नवतामिवाप्ता
स्नाता इवामृतरसैर्मधुचित्रिता वा।
वृन्दावने तरुलतामृगपक्षिभृङ्गा
आसन् हरेर्वनविहारविलोकहर्षात् ॥१३॥

मूर्च्छा भङ्ग होने पर जैसे नवीन जीवन प्राप्त होता है, अमृत रस में स्नान करने के अनन्तर अथवा ऋतु द्वारा जैसे लोकसमूह नवीन विलक्षणता को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार श्रीवृन्दावन के तरु-लता, पशु-पक्षी, भ्रमरगण-पहले श्रीकृष्ण-विरह पीड़ित और क्षीण थे, अब वे श्रीकृष्ण के वन विहार के दर्शन करके अतिशय आनन्द को प्राप्त हुए ॥१३॥

कृत्वाग्रे द्विजमृगचञ्चरीकवृन्दं
कृष्णेक्षोत्सुकमटवीप्रहर्षिणीयम्।
चन्द्रांशूत् करवलितामरुच्चलारा-
दायान्तं त्वरितमिवाभ्युपैति कृष्णम् ॥१४॥

उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि यह वृन्दाटवी चन्द्रकिरणों से संयुक्ता, पवनवेग से कम्पिता एवं श्रीकृष्ण-दर्शन से अत्यन्त हर्षिता होकर पक्षी, मृग व भ्रमरों को आगे कर समीप पधारे हुए श्रीकृष्ण का स्वागत-सत्कार कर रही हो ॥१४॥

गौराङ्गीणां वपुः कान्तिमिलितेन्दुरुचा वनम्।
विलिप्तं भाति धौतं वा जलेन कलधौतयोः ॥१५॥

उस समय गौराङ्गिनी ब्रजसुन्दरियों की पीत अङ्ग कान्ति से सम्मिलित चन्द्रमा की धवल किरणों समस्त वन के ऊपर ऐसी छायी हुई थीं मानो तो सोना और चाँदी के जल से (कलधौत सोना चाँदी) स्नान करके वन विराजमान होवें ॥१५॥

श्रीराधिकाङ्गद्युतिवृन्दसङ्गमात् कृष्णाङ्गचञ्चत्द्युतयो विरेजिरे॥
सुधांशुमूर्त्तेर्द्युतिपुञ्जरञ्जिताश्चलत्तमालागदलालयो यथा ॥१६

ज्योत्स्ना-रजनी में तमाल पत्र जैसे चन्द्र की किरण- मालाओं से रञ्जित होकर शोभा देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण की चञ्चल देहकान्ति श्रीराधा की गौर-कान्ति से सम्मिलित होकर शोभा देने लगी ॥१६॥

स्वागताः स्थ सुखिनः खगा मृगाः शर्म्म वो लसति किं नगा लताः!।
भव्यमव्यवहितं मधुपावस्तानपृच्छदखिलानिति कृष्णः ॥१७॥

"हे पक्षियों! तुम सुखी तो हो? हे वृक्षों! हे लताओं! तुम सब तो कुशल में हो? हे भौंराओं! कुशल से हो न, कोई बाधा तो नहीं है?" इस प्रकार श्रीकृष्ण वन के समस्त प्राणियों से कुशल क्षेम पूछने लगे॥१७॥

किशलयकरभाक् सुपुष्पिताग्रा मधुपपिकालिनिनादमञ्जुगाना।
पवनगुरुविचालिताटवीयं हरिमवलोक्य ननर्त्त नर्त्तकीव॥१८॥

पुनश्च-यह वृन्दाटवी श्रीकृष्ण का दर्शन करके नर्त्तकी की भाँति नाचने लगी जो इसके कुसुमित डालों के अग्रभाग में कोमल कोयल हैं वे ही इसके हस्त हैं, भौरों व कोयल की ध्वनि ही इसके मनोहर गान हैं, पवन से अतिशय चञ्चल होना ही इसका नृत्य है॥१८॥

राधाकृष्णावन्वनुचलतोऽसंख्यान् भृङ्गान्
श्रान्तान् मत्वा पाययितुमिव स्वं माध्वीकम्।
वातालीवेल्लत् किशलयहस्तेनोत्फुल्ला
शश्वत् प्रेमार्द्राह्वयति मुदा वासन्तीयम्॥१९॥

श्रीराधाकृष्ण के अङ्ग-सौरभ से खिंचे हुए सङ्ग सङ्ग चलने वाले असंख्य भ्रमरों को श्रान्त जान यह माधवीलता प्रेम से स्निग्ध व प्रफुल्लित होकर अपना मधुपान कराने के लिए ही मानों वायु से हिलते हुए पत्ररूपी हस्तों के द्वारा उनको बुला रही है॥१९॥

निजकुलधर्म्ममपोह्य गोपिका सुखयति कृष्णमितीव शिक्षया।
अपि सुरभौ स्फुटिताथ तन्मुदे तमलिरुतैरिह नौति मालती॥२०

"गोपिका अपने कुलधर्म को परित्याग कर श्रीकृष्ण को सुख दे रही है" - इस प्रकार की शिक्षा पाकर मालतीलता वसन्त में विकसित होकर मानो तो श्रीकृष्ण के आनन्द के निमित्त भ्रमर-ध्वनि द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति कर रही है॥२०॥

चञ्चन्मत्तभ्रमरविलसितापाङ्गलोका कुसुमविहसिता।
नृत्यन्तीवानिलचलवपुषा मल्लीवल्ली हरिमुदमतनोत्॥२१॥

मल्लिकालता भी वायु से हिलते हुए अपने चञ्चल अङ्ग द्वारा नृत्य, चञ्चल भ्रमरों के विलास रूपी नेत्रों द्वारा अवलोकन एवं कुसुम समूह द्वारा हास्य करती हुई मानो तो श्रीकृष्ण के आनन्द को बढ़ा रही है॥२१॥

स्वसविधमयितं वीक्ष्य कृष्णं लतालीप्रमुदितविहगध्वाननान्दीमुखीयम्।
मलयजपवनोल्लालसत् पल्लवैजत्करविवृतनयैर्नृत्यतीव प्रमोदात्॥२२

अन्य लताओं ने भी श्रीकृष्ण को अपने समीप आगत दर्शन कर प्रमुदित पक्षीवृन्दों की ध्वनि द्वारा मानों तो मङ्गला दर्शन कर प्रमुदित पक्षी वृन्दों की ध्वनि द्वारा मानों तो मङ्गलाचरण-पाठ तथा मलय-समीर के वेग से अत्यन्त चञ्चल पल्लव रूपी काँपती भुजाओं द्वारा परमानन्द में नृत्य आरम्भ कर दिया ॥२२॥

प्रणयति कुञ्जावलिरपि गुञ्जा-ततिकृतचित्रा कुसुमविचित्रा।
नवदलतल्पाऽत्यलिपिकजल्पा सदयितकृष्णादिकहृदि तृष्णाः ॥२३

कुञ्ज श्रेणी भी गुञ्जाओं द्वारा श्याम, रक्त, श्वेतादि रङ्गों से चित्रित व विविध कुसुमों द्वारा परम मनोहर बनकर राजा नवीन पल्लवों की शय्या से संयुक्त होकर भ्रमर व कोकिलों की ध्वनि द्वारा प्रियतमा सहित श्रीकृष्ण व सखीवृन्द के हृदयों में विलास की लालसा जगाने लगीं ॥२३॥

राधाशम्पालिङ्गितदेहेऽमृतवर्षे
मन्द्रध्वाने कृष्णपयोदे स्फुरितेऽग्रे।
केकाध्वानैरुन्नतपिञ्छैः शिखिनीभि-
नृत्यत्यारान्मत्तमयूरावलिरुच्चैः ॥२४॥

श्रीकृष्ण रूपी जलधर को श्रीराधारूपिणी सौदामिनी द्वारा आलिङ्गित होकर रूप सुधा की वर्षा एवं कुण्ठ व वंशी की गम्भीर ध्वनि करते हुए सन्मुख प्रकाशमान दर्शन कर मोरों का दल उन्मत्त हो पंख फैला-फैला कर मोरनियों के साथ समीप ही नृत्य करने लगा ॥२४॥

ध्वनदलिविहगं शीतवातेरितं परिणतफलयुक् चन्द्रिकारूषितम्।
विकचकुसुमसत् सौरभं श्रीहरेर्वनमिदमतनोदिन्द्रियाणां मुदम् ॥२५

तब तो यह वृन्दावन श्रीकृष्ण के समस्त इन्द्रियों को आनन्द प्रदान करने लगा। भ्रमर व पक्षीध्वनि से कर्ण, शीतल वायु से त्वचा, पके फलों से रसना, ज्योत्स्ना से नेत्र तथा विकसित पुष्पों के श्रेष्ठ सौरभ से नासिका प्रमुदित होने लगे ॥२५॥

अथ दरफुल्लमशोकलतास्तबकयुगं वृषभानुसुता।
स्वयमवचित्य हरेः श्रवसोश्चपलकरेण दधौ सुमुखी ॥२६॥

अब वृषभानुनन्दिनी सुमुखी श्रीराधा ने अशोक-लता के अल्प विकसित पुष्पों के दो गुच्छे स्वयं चुनकर भाव के आवेग से चञ्चल श्रीहस्तों द्वारा श्रीकृष्ण के कर्णों में अर्पण किये ॥२६॥

तदनु चलिता स्वयं हरिणाऽप्यसौ
प्रणयकलहे सदाऽप्यपराजिता।
तदपि स च तत्करादपहृत्य तत्-स्तवक-
युगलं प्रियाश्रवसोर्न्यधात् ॥२७॥

तब श्रीकृष्ण श्रीराधा के कर्णों में धारण कराने के लिए दो अशोक के गुच्छे लाने चले तो श्रीराधा भी सङ्ग चलीं। वे दुबारा दो गुच्छों को श्रीकृष्ण के धारण कराने के लिए अग्रसर हुई, परन्तु श्रीकृष्ण ने उनके श्रीहस्त से छीन कर उनके ही कर्णों में पहना दी। यद्यपि श्रीकृष्ण के साथ प्रणय-कलह में श्रीराधा की ही सर्वदा जय होती है तथापि श्रीराधा के कर्णों में अशोक स्तवक धारण कराते समय श्रीकृष्ण की ही जय हो गयी॥२७॥

सुकण्ठीभिः कण्ठीरवमधुरमध्याभिरभितः
कलं गायन्तीभिः सरसमनुगीतामण्डलगुणः।
स्पृशन्नङ्गान्यासां स्तवककुसुमाद्यर्पणमिषा-
दकुण्ठामुत्कण्ठां निभृतरतयेऽवर्द्धयदयम् ॥२८॥

इधर सुमधुर कण्ठवाली, सिंह से भी क्षीण कटि वाली गोपियां श्रीकृष्ण के विमल गुणों का सरस मधुर गान कर रही हैं, श्रीकृष्ण स्तवक व पुष्प धारण कराने के छल से उनके अङ्गप्रत्यङ्ग को स्पर्श करते हुए निर्जन रति-विलास के लिए उनकी उत्कण्ठा को अत्यन्त बढ़ाने लगे॥२८॥

किलकिञ्चितबिव्वोकविलासललितादिकैः।
कृष्णस्ताभूषिताश्चक्रे स्वसङ्गाद्भावभूषणैः ॥२९॥

तब अपने सङ्ग के कारण श्रीकृष्ण ने गोपियों को किलकिञ्चित, विव्वोक व ललित आदि भाव रूपी भूषणों से विभूषित कर दिया- अर्थात् श्रीकृष्ण-सङ्ग के कारण उनके अङ्गों में ये सब भाव उदय होने लगे, यथा किलकिञ्चित=गर्व, अभिलाष रुदन, स्मित, असूया, भय व क्रोध इन सात भावों का मेल; विव्वोक=चित्त के चाहने पर भी गर्व व मान के कारण अनादर भाव; ललित=अङ्गों की भङ्गी चाल, भ्रू-विलास का कोमल, मनोहर होना इत्यादि॥२९॥

स्ववर्णिताभिर्वल्लीभिरलिध्वनिमिषादसौ।
अनुगीतोऽनन्दयत्ताः पुष्पादानमिषात् स्पृशन् ॥३०॥

जिन लता-बेलों का बखान स्वयं श्रीकृष्ण करते चलते हैं और जिन पर बैठे हुए भौंरे अपनी गुञ्जार के मिष से श्रीकृष्ण के पीछे पीछे गाते

हुए चलने लगते हैं, उन लताओं को पुष्प-चुनने के छल से स्पर्श करते हुए श्रीकृष्ण उनको सुखी करते हैं॥३०॥

यद्‌यज्जगौ चन्द्रलतादिकं हरि-
स्तेनैव पश्चात् प्रियया युतं हरिम्।
वर्णार्थयोः क्वापि विपर्य्ययेण ताः
कृष्णस्य नाम्नाऽनु जगुः क्व चालयः॥३१॥

किसी समय श्रीकृष्ण चन्द्रमा व लता आदि को लक्ष्य करके जो जो पद वर्ण, शब्द, स्वर, ताल, लय, ग्राम व मूर्च्छना सहित गाते हैं तो सखियाँ उसी क्षण उन उन पदों के वर्ण व अर्थ को विपरीत करके प्रियायुक्त श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके श्रीकृष्ण के नामों को गाने लगती हैं॥३१॥

जगदाह्लादकशीलः प्रमदाहृदि वर्द्धितमनसिजपीलः।
राधानुराधिकान्तर्विलसन् शुशुभे कलानिधिः सोऽयम्॥३२॥

यथा :- श्रीकृष्ण ने प्रथम ऐसे गान किया :- जिसका स्वभाव जगत् को आनन्दित करने वाला है, जो प्रमदाओं (रमणियों) के मन में कामव्यथा को बढ़ाने वाला है, वह कला निधि चन्द्र राधा व अनुराधा नामक दो नक्षत्रों के मध्यस्थित होकर शोभा को प्राप्त हो रहा है। (यहाँ इस श्लोक में अर्थ चन्द्रपरक है - इसी का अर्थ अगले श्लोक में श्रीकृष्णपरक है। इसी प्रकार आगे भी ४१ वें श्लोक तक दो-दो श्लोक अक्षरशः समान हैं॥४२-४३॥ में एक दो अक्षर बदले गये हैं। एक ही प्रकार के शब्दों का होना अनुप्रासालङ्कार है तथा शब्द एक से होते हुए भी अर्थ भिन्न होना श्लेषालङ्कार है)॥३२॥

जगदाह्लादकशीलः प्रमदाहृदि वर्द्धितमनसिजपीलः।
राधानुराधिकान्तर्विलसन् शुशुभे कलानिधिः सोऽयम्॥३३॥

गोपियों ने भी पूर्व श्लोक ही गाया परन्तु उसका अर्थ भिन्न है, यथाः - जिनका स्वभाव जगत् को आनन्दित करने वाला है, जो प्रमदाओं के हृदय में काम-व्यथा को बढ़ाने वाले हैं, वे कलानिधि अर्थात् विलास-वैदग्धी आदि सकल कलाओं के आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण, श्रीराधा व अनुराधा अर्थात् ललिता के मध्य में स्थित शोभायमान हैं॥३३॥

सन्मालत्यामस्यां मालत्यां मालतीभिः फुल्लाभिः।
संवेष्टित इह परितः पुन्नागोऽयं विराजते गहने॥३४॥

श्रीकृष्ण ने गाया :- प्रशस्ता मालती अर्थात् ज्योत्स्ना उसके

सहित इस मालती अर्थात् रजनी में प्रफुल्लित मालती नाम की लता द्वारा परिवेष्टित होकर पुन्नाग अर्थात् नागकेशर इस वन में शोभित है॥३४॥

सन्मालत्यामस्यां मालत्यां मालतीभिः फुल्लाभिः।
संवेष्टित इह परितः पुन्नागोऽयं विराजते गहने॥३५॥

गोपियों ने भी यही पद गाया परन्तु भिन्न अर्थ में - यथा :- प्रशस्ता ज्योत्स्ना युक्त इस रजनी में प्रफुल्लित मालती अर्थात् नायिकाओं द्वारा संवेष्टित होकर पुन्नाग अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इस वन में विराजमान हैं॥३५॥

माधवालिङ्गिता माधवी भ्राजते
माधवश्चानया फुल्लया राजते।
विश्वमप्येतयोः सङ्गमानन्दत-
श्चक्षुषी नन्दयन् मोदते सर्व्वतः॥३६॥

श्रीकृष्ण ने गाया :- माधवी (लता) माधव (बसन्त) द्वारा आलिङ्गित्ता होकर शोभा पा रही है तथा माधव भी माधवी द्वारा आलिङ्गित होकर शोभा पा रहे हैं और इन दोनों के सङ्गमानन्द से समस्त ब्रह्माण्ड ही सर्वतः आनन्दित हो रहा है॥३६॥

माधवालिङ्गिता माधवी भ्राजते
माधवश्चानया फुल्लया राजते।
विश्वमप्येतयोः सङ्गमानन्दत-
श्चक्षुषी नन्दयन् मोदते सर्व्वतः॥३७॥

गोपियों ने अर्थ बदल कर यही पद गाया, यथा माधवी (श्रीराधा) माधव (श्रीकृष्ण) द्वारा आलिङ्गिता होकर शोभा पा रही है तथा माधव (श्रीकृष्ण) माधवी (श्रीराधा) द्वारा आलिङ्गित्त होकर शोभा पा रहे हैं-इत्यादि पूर्ववत्॥३७॥

संफुल्ला संफुल्लो मिलनान्मिथ इह वने तदालीनाम्।
काञ्चनवल्ली चासौ सुखदा तापिञ्छमौलिश्च॥३८॥

श्रीकृष्ण :- इस वन में प्रफुल्लिता काञ्चनलता एवं प्रफुल्लित तमाल वृक्ष परस्पर सम्मिलन से सदा भ्रमरों के लिए सुखप्रद होकर शोभित हैं॥३८॥

संफुल्ला संफुल्ला मिलनान्मिथ इह वने सदालीनां।
काञ्चनवल्ली चासौ सुखदा तापिञ्छमौलिश्च॥३९॥

गोपियाँ :- इस वन में प्रफुल्लिता काञ्चनलता श्रीराधा व प्रफुल्लित तमाल वृक्ष श्रीकृष्ण परस्पर सम्मिलन द्वारा सदा सखियों के लिए सुखप्रद होकर विराजमान हैं॥३९॥

शंसन्निव मदनाज्ञां मदयन् हृदयं कलं गायन्।
नवपद्मिनीषु रात्रौ विलसति मधुसूदनश्चित्रम् ॥४०॥

श्रीकृष्ण :- मधुसूदन (भ्रमर) अपने मधुर गायन द्वारा श्रोताओं के हृदय को आनन्दित कर मानों तो मदन की आज्ञा का प्रचार करता हुआ रात्रि में नवपद्मिनियों के सङ्ग विलास कर रहा है- यह बड़ा आश्चर्य है॥४०॥

शंसन्निव मदनाज्ञां मदयन् हृदयं कलं गायन्।
नवपद्मिनीषु रात्रौ विलसति मधुसूदनश्चित्रम् ॥४१॥

गोपियाँ :- मधुसूदन (श्रीकृष्ण) अपने मधुर गायन द्वारा हृदय को आनन्दित कर मानो तो मदन की आज्ञा का प्रचार करते हुए रात्रि में नवपद्मिनियों (नवीन उत्तम नारियों) के सङ्ग चित्र (नानाविध) विलास कर रहे हैं॥४१॥

रजनीरमणस्तमसां शमनोनलिनीकुलमुन्महसामपनुत्।
शितिगुर्गगने शितिभे विघने सुवभौ कुमुदावक एष मुदा ॥४२॥

श्रीकृष्ण-यह अन्धकार नाशक रजनीकान्त शितिगु अर्थात् धवल कान्ति वाला शशधर (चन्द्रमा) विघन अर्थात् मेघशून्य उज्ज्वल गगन में स्थित होकर कुमुदसमूह की रक्षा करता हुआ कमल कुल आनन्द को नष्ट कर रहा है॥४२॥

रमणीरमणस्तमसां शमनः खलिनीकुलमुन्महसामपनुत्।
शितिगुर्गगने शितिभे विघने विवभौ कुमुदाकर एष मुदा ॥४३॥

गोपियाँ श्लोक के कोई कोई अक्षर को बदल कर कहती हैं :- रमणियों में रमण करने वाले, अन्धकार को नाश करने वाले, कृष्णकान्ति वाले ये श्रीकृष्ण विघन अर्थात् विशेष रूप से घने व शितिभ अर्थात् नीले वन में स्थित होकर कुमुद अर्थात् कुत्सित (बुरे कामों) में ही मुद अर्थात् हर्ष मानने वाले खलिनीकुल अर्थात् दुष्टजनों के आनन्द को नष्ट कर रहे हैं।॥४३॥

कमलिनीमलिनीकरणे पटुर्विधुरिताधुरितानिह चक्रवान्।
निविदधद्विदधद्द्रगणे धृतिं न स मुदे समुदेति विधुर्मम ॥४४॥

श्रीकृष्ण :- कमलिनियों को मलिन करने में निपुण विधु (चन्द्रमा) चकोरों को अत्यन्त दुःख पहुँचाता हुआ और नक्षत्रों को धीरज बँधाता हुआ सम्यक् रूप से उदय हो रहा है॥४४॥

स सुदृशां सुदृशां रुचिकृद्रुचिर्विरहितारहिता निजतारकाः।
सुविदधद्विदधत् कुमुदावनं वरमुदे स मुदेति विधुर्हि नः॥४५॥

गोपियाँ :- विधु अर्थात् (१) विशेष प्रकार से दुःख खण्डन करने वाले एवं (२) सुख का विधान करने वाले श्रीकृष्ण सुनयनी व्रजाङ्गनाओं के सुन्दर नयनों के रुचिकर बने हुए अपनी तारामण्डली अर्थात् प्रेयसी वर्ग को विरहशून्य करते हुए तथा पृथिवी के आनन्द को बढ़ाते हुए हमें उत्कृष्ट आनन्द प्रदान करने के लिए उदय हो रहे हैं॥४५॥

इत्थं गायन् मधुरविपिन श्रीभरालोकतृप्तः
कान्तावल्लीरपि विरचयन् स्वाभिमर्शेन फुल्लाः।
भ्रामं भ्रामं भ्रमरनिकरैः स्वानुगैर्वेष्टितोऽसौ
ताभिर्वंशीवटविटपिनः कुट्टिमं प्राप कृष्णः॥४६॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण गाते हुए तथा वन की अतिशय शोभा से सुखी होते हुए गोपियों व लताओं को नख अथवा अङ्ग के स्पर्श द्वारा सुखी करते हुए, पीछे-पीछे उड़ते हुए भ्रमरों से वेष्टित होकर वंशीवट वृक्ष की वेदी पर जा पहुँचे॥४६॥

तत्रोपविष्टः स ददर्श कृष्णां स्वदर्शनानन्दविवृद्धतृष्णाम्।
फेनालिहासां खगनादगानां स्वसङ्गमायोत्कहृषीकवर्गाम्॥४७॥
स्पर्शोत्सवायोच्छलदूर्म्मिहस्तां लोलाध्वजरक्तोत्पलफुल्लनेत्राम्।
समुच्छलन्नक्रमुखोच्चनासामावर्त्तगर्त्तोत्सुककर्णपालीम्॥४८॥
॥ युग्मकम्॥

तथा उस पर बैठकर श्रीकृष्ण ने कृष्णा (यमुना) के दर्शन किये। श्रीकृष्ण के दर्शन के आनन्द से यमुना की तृष्णा (लालसा) अत्यन्त बढ़ चली। शुभ्र फेन (झाग) के रूप में उसके वदन पर सुन्दर हँसी छा गयी, जलचर-पक्षियों की ध्वनि के रूप में वह गाने लगी तथा श्रीकृष्ण से मिलने के लिए उनकी समस्त इन्द्रियाँ उत्सुक हो उठीं॥४७॥ श्रीकृष्ण के अङ्ग को स्पर्श करने के लिए उसके तरङ्ग रूपी हस्त उछलने लगे, रक्तपद्मरूप नयन चञ्चल हो उठे, नक्र आदि जलजन्तु रूप नासिका ऊपर प्रकट हो आयी, तथा भंवर रूप कर्णश्रेणी उत्सुक हो उठीं॥४८॥

पुलिनानि समीक्ष्यासौ तत्र रन्तुमना हरिः।
कृष्णापारं गन्तुकामः समुत्तस्थौ प्रियागणैः ॥४९॥

तब श्रीकृष्ण ने यमुना के मनोहर विस्तृत पुलिनस्थली के दर्शन कर वहाँ विहार करने की इच्छा की। अतएव यमुना पार जाने की इच्छा से प्रियाओं सहित वहाँ से उठे ॥४९॥

अथागतानां स्वजलान्तिकं सा तेषां पदाब्जेषु तरङ्गहस्तैः।
समर्प्य पद्मान्यथ तानि कृष्णा तैस्तैः स्पृशन्तीव मुहुर्ववन्दे ॥५०॥

वे जब यमुना जल के समीप आये तो यमुना ने तरङ्ग रूप हस्त द्वारा उनके चरणों पर कमलों को अर्पण किये तथा उन सब समर्पित कमलों को मानो स्वयं स्पर्श करके उनकी बारम्बार वन्दना की ॥५०॥

गतिशिञ्जिते मुररिपोर्वनितानां
द्रुतमभ्यसन्निव निजैर्गतिनादैः।
तमिहाभ्युपैति पुरतस्तटकच्छात्
कलहंसिकालिवलितः कलहंसः ॥५१॥

श्रीकृष्ण प्रियाओं के गमन काल में उनके भूषणों की मधुर सिञ्जन (ध्वनि) को सुनकर मानो तो उस ध्वनि का अभ्यास करने के लिए अर्थात् अपने कण्ठ से वैसा ही मधुर शब्द निकालने के लिए कलहंस, हंसिनियों के साथ यमुना किनारे के जल से बाहर भूमि पर निकल–निकल कर इनके समीप आने लगे ॥५१॥

स्खलद्गतितयाच्युतागतिमुदा
समृद्धजलतां जगाम यमुना।
स्वपारमयितुं समुत्कमथ तं
समीक्ष्य तनुतां जलोद्धतगतिः ॥५२॥

श्रीकृष्ण–आगमन के आनन्द से यमुना की गति स्तब्ध हो (रुक) कर उसका जल बढ़ गया था परन्तु जब अपने पार जाने के लिए श्रीकृष्ण को उत्सुक देखा तो यमुना का जल व वेग क्षीण हो गया ॥५२॥

जानुद्वयसतोयायां कृष्णायां कृष्णतुष्टये।
गुल्फदघ्नजला आसन् निर्झराः पुलिनावृताः ॥५३॥

श्रीकृष्ण के परितोष के लिए यमुना ने अपने जल को घुटनों तक कर लिया तो पुलिन पर की अन्य धाराओं का जल टकना तक हो गया ॥५३॥

तीर्त्वा तीर्त्वा सुखेनैतान् क्रमेण निर्झरान् हरिः।
बभ्राम पुलिनेष्वेषु विहरन् सप्रियागणः ॥५४ ॥

श्रीकृष्ण व प्रिया वर्ग उन धाराओं को बारम्बार सहज ही पार हो-होकर पुलिन समूह में विचरने लगे ॥५४॥

साकूत-सस्मितविलोकन-नर्म्मजल्पै
रालिङ्गन-स्तननखार्पणचुम्बनाद्यैः।
तासां स्वसङ्गजमनोजविलासतृष्णां
कुर्व्वन् मुहुः स विपुलां विललास कृष्णः ॥५५ ॥

श्रीकृष्ण विशेष अभिप्राय से हास्य, अवलोकन, परिहास, जल्प, आलिङ्गन, स्तनों पर नखाघात, मुखचुम्बन आदि नाना- विध क्रियाओं द्वारा गोपियों की विलासतृष्णा को अतिशय रूप से बढ़ाते हुए विहार करने लगे ॥५५॥

ततः पुलिनमागत्य स चक्रभ्रमणाभिधम्।
तत्र रन्तुमनाश्चक्रमारुरोह प्रियागणैः ॥५६ ॥

पश्चात् श्रीकृष्ण ने पुलिन पर आगमन कर विहार करने की वासना से चक्रभ्रमण नामक चक्र पर प्रियाओं सहित आरोहण किया ॥५६ ॥

वितस्तिमात्रोच्चनिखातशङ्कुग
त्रिनेमिचक्रोपरि राधया सह।
स्थितः स मध्येऽन्यसखीगणैः क्रमा-
द्वहिश्चकाराथ सुमण्डलत्रयीम् ॥५७ ॥

चक्रभ्रमण का प्रकार यह है कि भूमि पर गड़ी हुई एक बिलांत भर कीली के ऊपर तीन नेमियों (परिधि, घेरा) वाला एक चक्र (गोल थाल) है, उस चक्र के मध्यभाग में श्रीराधा सहित श्रीकृष्ण चढ़े, तथा तीन नेमियों पर सखियों की तीन मण्डलियाँ खड़ी हो गयीं ॥५७॥

आवृत्य पूर्ण रसधारया हरिं
राधोपगूढ़ं किल मण्डलत्रयी।
सुवर्णवल्ल्यञ्चितमालशाखिनं
स्वर्णालवालालिरिवावभावसौ ॥५८ ॥

यह तीन सखी मण्डलियाँ रसोल्लास पूर्ण श्रीराधा द्वारा आलिङ्गित श्रीकृष्ण को मध्य में करके चारों ओर ऐसी शोभा देने लगीं जैसे स्वर्णलता वेष्टित तमालतरु को आवृत करके स्वर्ण का आलबाल शोभा देता है ॥५८॥

आदिश्य हल्लीशककेलिरङ्गे
राधामुकुन्दौ ललितादिकालीः।
तत्रांसविन्यस्तभुजौ मिथस्ता–
वनृत्यतां लास्यविदां वरिष्ठौ ॥५९ ॥

अब नृत्यविदों में श्रेष्ठतम श्रीराधाकृष्ण ने ललितादिक सखियों को हल्लीशक अर्थात् मण्डली नृत्य करने का आदेश कर आप दोनों ने परस्पर स्कन्ध पर हस्त प्रदान पूर्वक नृत्य आरम्भ किया ॥५९ ॥

नृत्यन्नितम्बिनीनां तद्वैदग्ध्यपदचालनैः।
कुलालचक्रवच्चक्रं भ्रमदासीत्तयोरपि ॥६० ॥

नृत्य करती हुई सखियों के तथा श्रीयुगल के चरण–चालन चातुरी से वह रासचक्र ("चक्रभ्रमण") कुलाल चक्र (कुम्हार का चाका) की भाँति वेग से घूमने लगा ॥६० ॥

विधाय राधां ललिता–विशाखयो–
र्मध्ये तदंशार्पितबाहुरच्युतः।
गायन् स गायद्भिरलं कदाप्यसौ
बभ्राम नृत्यन् सह नर्त्तकीगणैः ॥६१ ॥

श्रीकृष्ण श्रीराधा को ललिता व विशाखा के मध्य में करके कभी उनके स्कन्ध और कभी ललिता–विशाखा के स्कन्धों पर हस्तयुगल अर्पण करके गायन व नृत्य करती हुई सखियों के साथ स्वयं गाते हुए नृत्य करने लगे ॥६१ ॥

लघुभ्रमच्चक्रगतेः समा तासां गतिः क्वचित्।
क्वचिन्मन्दा क्वचिच्छीघ्रा विविधासीत् प्रिया हरेः ॥६२ ॥

चक्र की गति लघु अथवा द्रुत जब जैसी होती तब ब्रजाङ्गनाओं की गति भी उसके समान ही कभी मन्द और कभी शीघ्र विविध प्रकार की होकर श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने लगी ॥६२ ॥

तासां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये तदंसन्यस्तदोः स्फुरन्।
सचलत् स्वर्ण वल्लीनां नृत्यत्तापिञ्छवद्बभौ ॥६३ ॥

उन सब गोपियों के मध्य–मध्य में श्रीकृष्ण प्रवेश कर उनके स्कन्धों पर हस्त रखकर चञ्चल स्वर्णलताओं के मध्य तमालवृक्ष की भाँति शोभा देने लगे ॥६३ ॥

सोऽलातचक्रवत् क्वापि लघुगत्याभ्रमत्तथा।
हित्वा मां क्वाप्यसौ नागादिति ता मेनिरे यथा॥६४॥

अलातचक्र (लुआठ) को घुमाने से जैसे अग्नि मण्डलाकार दिखायी देती है वैसे ही श्रीकृष्ण गोपियों में चक्र की तीव्र गति के कारण भ्रमण करने लगे जिससे प्रत्येक गोपी यही समझती कि श्रीकृष्ण मेरे ही समीप हैं, अन्यत्र कहीं गये नहीं॥६४॥

स एकां मण्डलीं कृत्वा प्रान्ते सर्व्वप्रियागणैः।
तासां मध्ये स्फुरन्नृत्यन् चक्रञ्च भ्रमयन् वभौ॥६५॥

श्रीकृष्ण के चक्र के छोर पर, एक पृथक मण्डल रचकर प्रियागण के साथ उसके मध्य में नृत्य करते-करते चक्र को घुमाते हुए शोभा देने लगे॥६५॥

स्वशक्तिं दर्शयन् चक्राद्युगपद्वा कमाच्चलात्।
अवरुह्य मुहुस्तत्तत्स्थानमाश्वारुरोह सः॥६६॥

श्रीकृष्ण अपनी अद्भुत नृत्य-कौशल दिखाने लगे। वे वेग से घूमते हुए उस चक्र पर से एक ही समय अथवा क्रम से चक्र के जिस स्थान पर से भूमि पर उतर पड़ते, उसी स्थान पर शीघ्र ही चढ़ जाते इस प्रकार उतरते-चढ़ते हुए भी ऐसे दिखाइ देते कि वे गोपियों के मध्य में ही स्थित हुए नृत्य कर रहे हैं-यही उनकी अद्भुत नृत्य शक्ति थी॥६६॥

गोप्यश्च युगपत् सर्व्वाः कदाप्येकैकशः क्वचित्।
अवरुह्यारमारुह्य चक्रुर्मण्डलबन्धनम्॥६७॥

यह देख कर गोपियाँ भी अपनी आरोहण अवरोहण चढ़ने उतरने) की शक्ति को दिखाती हुई कभी तो सबके सब एक साथ और कभी एक-एक चक्र से भूमि पर उतर पुनः शीघ्रतापूर्वक चक्र पर चढ़ मण्डल बना नृत्य करने लगीं॥६७॥

विलस्येत्थं हरिस्ताभिश्चक्रभ्रमणनर्त्तनैः।
रासलीलाविशेषाय चक्रादवरुरोह सः॥६८॥

श्रीकृष्ण इस प्रकार से चक्रभ्रमण व नृत्य सहित उनके साथ विलास करके कोई विशेष रासलीला के लिए चक्रपर से उतर पड़े॥६८॥

स्वलहरिमृदुहस्तैः संस्कृतं कृष्ण आल्या
कुमुदसुरभिवातैर्माजितं स्फारमग्र्यम्।

शशिकिरणसुधाभिः सिक्तलिप्तं स ताभिः
पुलिनवरमनङ्गोल्लासरङ्गाख्यमायात् ॥६९ ॥

कृष्ण उतरकर 'अनङ्गोल्लास' नामक पुलिन पर सखियों सहित जा पहुँचे। वह पुलिन यमुना के हस्तरूपा लहरियों द्वारा संस्कृत, कुमुद, कुसुम के पवन से सुरभित, पवन द्वारा मार्जित, चन्द्र-किरणों द्वारा सिक्त (नहाया हुआ) व लिप्त तथा विस्तृत था ॥६९ ॥

विधाय कृष्णः परितः सुमण्डलीं
तस्मिन्मिथो बद्धकरैः प्रियागणैः।
तदन्तरायं प्रियया बभौ यथा
विशाखयेन्दुः परिवेशमध्यगः ॥७० ॥

उस स्थान पर श्रीकृष्ण परस्पर बद्ध हस्त प्रियाओं द्वारा सुन्दर मण्डल रचना कर उसके मध्य में प्रियतमा श्रीराधा के साथ ऐसे शोभित हुए जैसे परिधि (घेरा) मध्य चन्द्रमा विशाखा नक्षत्र के साथ शोभित होता है॥७० ॥

परिभ्रमत्तल्ललनालिमण्डलं
बभौ यथा कामकुलालभूपतेः।
रासादिलीलाख्यघटादिनिर्म्मितौ
सुवर्ण चक्रं हरिदण्डचालितम् ॥७१ ॥

जैसे कुम्हार के घड़ा बनाते समय चाका को हाथ से घुमाने पर वह चाका शोभा देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण रूपी कुलालराज द्वारा रासादि लीला रूपी घट निर्माण करने के लिए स्वर्ण चक्ररूपिणी ललनामण्डली को अपने बाहु दण्ड द्वारा सञ्चालित करने पर वह ललनामण्डली शोभा देने लगी॥७१ ॥

तन्मण्डलं भाति विलाससागरे रोद्धुं मनोमीनमिहैव किं हरेः।
कन्दर्प-कैवर्त्तवरप्रसारितं हैमं महाजालमुरोजतुम्बिकम् ॥७२ ॥

धीवर जैसे मछली पकड़ने के लिए नदी में जाल फैला उसके ऊपर कुछ तूंबें बाँध कर उसे पानी पर तिरा देता है वैसे ही इस विलाससागर में कन्दर्परूपी कैवर्त्त (धीवर) ने मानस मत्स्य को पकड़ने के लिए मानों तो गौराङ्गी ब्रजाङ्गनाओं के रूप में सोने के सूत से बुने हुए महत् जाल को प्रसारित कर रक्खा है जिस पर उरोज रूपी तूँबी फल लगे हुए हैं॥७२॥

परस्परबद्धकरप्रियातते-
र्द्वयोर्द्वयोर्मध्यगतः क्वचित्प्रभुः।
प्रियायुगांशार्पितदोर्युगोऽस्फुर-
त्ताभिः स नानागतिनर्त्तनैर्भ्रमन् ॥७३॥

कभी प्रियाओं के परस्पर हस्त ग्रहण कर नृत्य करने पर श्रीकृष्ण दो-दो प्रियाओं के मध्य में प्रविष्ट हो दोनों स्कन्ध पर अपनी दो भुजा अर्पण कर उनके साथ नानाविध नृत्यपूर्वक रासचक्र में भ्रमण करते हुए शोभित होते हैं॥७३॥

भुजशिरसि विराजद्दोर्युगं स्वप्रियाल्याः
प्रचलदजयदेतन्मण्डलं कृष्णमूर्त्तेः।
जलदशकलजालं मध्यमध्यातिराजत्
स्थिरतड़िदुपगूढ़ं संभ्रमच्चक्रवातैः ॥७४॥

रासमण्डल में गोपियों के मध्य-मध्य में श्रीकृष्ण की अनेक मूर्त्तियाँ मानो तो मेघमण्डल के खण्ड-खण्ड हैं जोकि गोपियों के रूप में अत्यन्त दीप्तिमती सौदामिनी समूह द्वारा आलिङ्गित हैं। उन श्रीकृष्ण मूर्त्तियों की एक-एक भुजा गोपियों के एक एक कन्धा पर विन्यस्त हैं। इस प्रकार दोनों भुजाओं को दो-दो गोपियों के कन्धों पर स्थापित किये हुए आलिङ्गित होकर श्रीकृष्ण मूर्त्तियाँ चक्रवात (बवण्डर) से भी तीव्र गति से नृत्य करती हुई तडित् मेघखण्डमालाओं की शोभा पर विजय प्राप्त कर रही है॥७४॥

कदाचिदेक एवायं स्वीयभ्रमणलाघवात्।
भ्रमन्नलातचक्राभः सर्व्वासां पार्श्वगोऽस्फुरत् ॥७५॥

पूर्व श्लोक में श्रीकृष्ण की अनेक मूर्त्तियों का वर्णन करके इस श्लोक में कहते हैं कि कभी एक ही श्रीकृष्ण की अतिशय वेग पूर्वक अलातचक्र की भाँति भ्रमण करते हुए समस्त ब्रजाङ्गनाओं के पार्श्व में स्थित स्फुरित होने लगते हैं॥७५॥

हरि हरिदयितानां वंशिकाकण्ठगानै-
र्मिलितवलयकाञ्चीनूपुरालीस्वनौघः।
नटनगतिविराजत् पादतालानुगामी
निजवरमधुरिम्ना व्यानशेऽसौ जगन्ति ॥७६॥

श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि ने प्रियाओं की कण्ठ के गीत, वलय, करधनी व नूपुरों के शब्द समूह के सङ्ग मिश्रित होकर तथा नृत्य की गति में विशेष

रूप से प्रकाशित होने वाले चरण-तालों का अनुगमन कर अपनी अत्युत्कृष्ट माधुरी द्वारा जगत् को व्याप्त कर दिया॥७६॥

अनिबद्धं निबद्धञ्च द्विधा गीतञ्च ते जगुः।
सारिगमपधन्याख्यस्वरानाललपुः पृथक्॥७७॥

श्रीकृष्ण व ब्रजाङ्गनाएँ दो प्रकार के गीत अनिबद्ध व निबद्ध गान करने लगे। उनमें प्रथम निबद्ध अर्थात् सा रे ग म प ध नि- ये सात स्वर पृथक् २ रूप से आलाप के द्वारा दर्शाने लगे॥७७॥

शुद्धाश्चाविकृतां जातिं विविधाश्च मुदा जगुः।
तत्र सप्तविधां शुद्धामेकादशविधां पराम्॥७८॥

उसमें भी प्रथम स्वरों के शुद्ध व विकृत भेद से दो प्रकार की जातियों का आनन्दपूर्वक गान किया- उनमें भी शुद्ध जाति के सात और विकृत जाति के ग्यारह भेद होते हैं॥७८॥

षड्जमध्यमगान्धारभेदान् ग्रामांस्त्रिभेदकान्।
तत्र मर्त्यागोचरं ते गान्धारग्राममुज्जगुः॥७९॥

षड्ज, मध्यम व गान्धार भेद से स्वरों के ग्राम तीन प्रकार के होते हैं। उनमें जो गान्धार ग्राम (स्वर समूह) मनुष्य के अगोचर हैं उसके स्वरों का ही उच्चारण किया॥७९॥

श्रुतीः सप्तस्वरगता द्वाविंशतिभिदा जगुः।
समीरसंख्यांस्तानांश्च मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः॥८०॥

तदनन्तर सात स्वरों की बाइस श्रुतियाँ, (सातस्वरों के मध्य- मध्य में सूक्ष्म स्वर होते हैं, उन्हीं को श्रुतियाँ कहते हैं) उन्चास प्रकार के तान और इक्कीस प्रकार की मूर्च्छनाओं का गान किया॥८०॥

पञ्चदशप्रकारांश्च गमकांस्तिरिपादिकान्।
ढालादि बहुभेदञ्च स्थायं रम्यमिमे जगुः॥८१॥

पन्द्रह प्रकार के तिरिप नामक गमक (स्वरों को कँपाना) समूह एवं ताल के अनेक भेद अत्यन्त स्थिर व मनोहर ढङ्ग से श्रीकृष्ण ने सब गान कर दर्शाया॥८१॥

शुद्धसालगभेदेन निबद्धं द्विविधं जगुः।
शुद्धं संज्ञात्रयं तत्र प्रबन्धं वस्तुरूपकम्॥८२॥

पुनः शुद्ध व सालग भेद से निबद्ध जाति को गाया। उसमें निबद्ध के तीन नाम होते हैं - प्रबन्ध, वस्तु व रूपक॥८२॥

प्रबन्धे स्वरपाठादिभेदान्नानाविधान् जगुः।
रागान्नानाप्रकारांश्च ग्रहांश्च न्याससंयुतान् ॥८३॥

प्रबन्ध में भी स्वर व पाठादि के भेद से अनेक प्रकार के राग होते हैं। उनको नाना प्रकार के न्यासस्वरों व ग्रह स्वरों सहित गान किया ॥८३॥

सप्तस्वरांस्तु संपूर्णान् षट्स्वरान् षाड़वाभिधान्।
पञ्चस्वरानौड़वांश्च जगुस्ते तांस्त्रिभेदकान् ॥८४॥

सम्पूर्ण नामक सातस्वरों, षाड़व नामक छः स्वरों और औड़व नामक पाँच स्वरों के त्रिविध भेद से रागों का गान किया ॥८४॥

मल्लार–कर्णाटक–नट्ट–सम–
केदार–कामोदक–भैरवादीन्।
गान्धार–देशाग–वसन्तकांश्च
रागानगायन् सह मालवांस्ते ॥८५॥

पश्चात् मल्हार, कर्णाटक, नट, सामकेदार, कामोद, भैरव, गान्धार, देशाल, बसन्त व मालव राग श्रीकृष्ण व गोपियों ने गाये ॥८५॥

श्रीगुज्जरीं रामकिरीञ्च गौरी–मासावरीं गोण्डकिरीञ्च तोड़ीम्।
वेलावलीं मङ्गलगुज्जरीञ्च वराटिकां देशवराटिकाञ्च ॥८६॥
मागधीं कौशिकीं पालीं ललितां पटमञ्जरीम्।
सुभगां सिन्धुड़ामेता रागिणीस्ताः क्रमाज्जगुः ॥८७॥ युग्मकम् ॥

और श्री, गुज्जरी, रामकली, गौरी, आसावरी, गुणकली, तोड़ी, बिलावल, मङ्गलगुज्जरी, वराटिका, देशवराटिका, मागधी, कौशिकी, पाली, ललित, पटमञ्जरी, सुभग व सिंन्दुरा रागिनियों को गोपियों ने क्रमपूर्वक गान किया ॥८६-८७॥

घनानद्धततानान्ताः शुषिरानाञ्च भेदकान्।
वृन्दयोपहृतांस्तांश्च क्रमेणावादयन्मुहुः ॥८८॥

तदनन्तर वृन्दादेवी द्वारा प्रदत्त घन, (मञ्जीरा आदि) आनन्द (मृदङ्गादि) तत् (वीणादि) व शुषिर (वंशीआदि) ये चार प्रकार के वाद्य क्रमपूर्वक बारम्बार बजाने लगीं ॥८८॥

मुरजं डमरुं डम्फं मण्डुञ्च ममकादिकम्।
मुरलीं पाविकां वंशीं मन्दिरां करतालिकाम् ॥८९॥

फिर मृदङ्ग, डमरु, मण्डु (जलतरङ्ग) ममक (?) मुरली, पाविका (?) वंशी मन्दिरा (मादल, खोल) व करताल बजाने लगीं ॥८९॥

विपञ्चीं महतीं वीणां कच्छपीं करिनासिकाम्।
स्वरमण्डलिकां रुद्रवीणाञ्च ता अवादयन् ॥९० ॥ युग्मकम् ॥

फिर विपञ्ची, महती, वीणा, कच्छपी, करिनासिका, स्वर मण्डलिका (स्वरमण्डल) व रुद्रवीणा आदि नाना प्रकार की वीणाओं को बजाया ॥९० ॥

पताकां त्रिपताकाञ्च हंसास्यं कर्त्तरीमुखम्।
शुकास्यं मृगशीर्षञ्च सन्दंशः खट्टकामुखम् ॥९१ ॥
सूचीमुखं चार्द्धचन्द्रं पद्मकोषाहितुण्डिकम्।
नर्त्तने दर्शयामासुस्ता इत्यादिकहस्तकान् ॥९२ ॥ युग्मकम् ॥

तदनन्तर नृत्य-कर्म्म के अनेक प्रकार के हस्तक भेदों को दिखाया। नृत्य के समय सर्प के फन, हँस की ग्रीवा, कच्छप आदि जन्तुओं की भाँति हस्त-मुद्रा दिखाने का नाम हस्तक है। किन्तु रास में गोपियों ने हस्तक के अतिरिक्त पताका, त्रिपताका, हंसास्य (हंस-मुख), कर्त्तरीमुख (कैञ्चो), शुकास्य (शुक-मुख), मृगशीर्ष, सदंश, खटकामुख, सूचीमुख, अर्द्धचन्द्र, पद्मकोष व अहितुण्डक (नागफणि इत्यादि अनेक प्रकार की पताकाओं अर्थात् हस्त-मुद्राओं) को दिखाया। यथा पताका=अङ्गूठे को टेड़ा कर तर्जनी के मूल में लगा अङ्गुलियों को सीधा फैलाकर रखना। त्रिपताका अंगुष्ठ व कनिष्ठा के अग्रभाग को मिला शेष तीन अङ्गुलियों को सीधा फैलाकर रखना। हंसास्य=तर्जनी, मध्यमा व अङ्गुष्ठ के अग्रभाग को मिलाकर रखना इत्यादि ॥९१-९२ ॥

दधुस्तालान् बहुविधान् काश्चित्तु ध्रुवलक्षणान्।
मण्ठलक्षणकांश्चान्यान् काश्चित्तत्तद्विलक्षणान् ॥९३ ॥
अतीतानागतसमैर्ग्रहैश्च त्रिविधैर्युतान्।
समा गोपुच्छिका स्रोतोवहादियतिभिर्युतान् ॥९४ ॥
लयैश्च त्रिविधैर्युक्तान् द्रुतमध्यविलम्बितैः।
निःशब्दशब्दयुक्तेन द्विधा धरणसंयुतान् ॥९५ ॥
वर्द्धमानाभिधस्त्वेको हीयमानाभिधः परः।
इत्यावर्त्त द्वयाढ्येन मानेन च समन्वितान् ॥९६ ॥
चतुर्भिः कुलकम् ॥

कुछ गोपियाँ ध्रुवताल, मण्ठताल इत्यादि अनेक प्रकार के ताल और कुछ गोपियाँ उनसे ठीक विपरीत ताल वादन करने लगीं। (अब आगे

सर्गान्त पर्यन्त इन तालों का उल्लेख है)॥९३॥

ये तालें भी अतीत, अनागत व सम भेद से त्रिविध होते हैं। इन तालों को ग्रह सहित, समा, गोपुच्छिका व स्रोतोवहा नामक तीन यतियों सहित, द्रुत, मध्य व विलम्बित नामक तीन लयों सहित, एवं निःशब्द व शब्दयुक्त दो भेदों सहित गोपियों ने बजाया। इनमें प्रथम को बर्द्धमान व दूसरे को हीयमान कहा जाता है। इसी प्रकार इन तालों को दो प्रकार के आवर्त्त एवं मान सहित बजाया॥९४-९६॥

चञ्चत्पटं चाचपुटं रूपकं सिंहनन्दनम्।
गजलीलामेकतालं निःसारी-मादि-तालकम्॥९७॥
अड्डुकं प्रतिमण्ठञ्च झम्पञ्च त्रिपुटं यतिम्।
नलकूबरनुद्घट्टं कुट्टकं कोकिलारवम्॥९८॥
उपाट्टं दर्पणं राजकोलाहलशचीप्रियौ।
रङ्गविद्याधरं वादकानुकूलककङ्कणे॥९९॥
श्रीरङ्गाख्यं च कन्दर्प षट् पितापुत्रकं तथा।
पार्व्वतीलोचनं राजचूड़ामणिजयप्रियौ॥१००॥
रतिलीलं त्रिभङ्गीञ्च चच्चरत् वारविक्रमम्।
इत्यादीन्नर्त्तने तालान् दधुः कृष्णोऽस्य च प्रियाः॥१०१॥

अब कुछ अन्य तालों का उल्लेख करते हैं। यथा चञ्चत्पुट, रूपक, सिंहनन्दन, गजलीला, एकताल, निःसारी, अड्ड़क, (आड़ताल), प्रतिमण्ठ, झम्प (झपताल) त्रिपुट, यति, नल-कुबर, नुद्घट्ट, कुट्टक,कोकिलारव, उपाट्ट, दर्पण, राजकोलाहल, शचीप्रिय, रङ्गविद्याधर, वादक, अनुकूल, कङ्कण, श्रीरङ्ग, कन्दर्प, षट्पितापुत्रक पार्वतीलोचन, राजचूड़ामणि, जयप्रिय, रतिलील, त्रिभङ्गी, चच्चरत्, बारविक्रम- ये चौंतीस ताल श्रीकृष्ण व श्रीकृष्णप्रिया ब्रजाङ्गनाओं ने वाद्य में प्रकट किये॥९७-१०१॥

श्रीचैतन्यपदारविन्दमधुप श्रीरूपसेवाफले,
दिष्टे श्रीरघुनाथदासकृतिना श्रीजीवसङ्गोद्गते।
काव्ये श्रीरघुनाथभट्टवरजे गोविन्दलीलामृते,
सर्गो रासविलासवर्णनमनुद्वाविंशकोऽयं गतः॥२२॥

यह श्रीगोविन्दलीलामृत श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के पदारविन्द के मधुप स्वरूप श्रीरूपगोस्वामी की सेवा का फल, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी

द्वारा प्रेरित है, श्रीमज्जीवगोस्वामी के सत्सङ्ग से उदय हुआ है, तथा श्रीरघुनाथभट्टगोस्वामी के वर के प्रभाव से प्रादुर्भूत हुआ है। इस प्रकार श्रीगोविन्दलीलामृत काव्य में रासविलास काव्य में रास-विलास वर्णनमय बाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ॥२२॥

श्रीगोविन्दलीलामृतम्

त्रयोविंशः सर्गः

अथ प्रबन्धगानं स नानातालैः पृथग्विधम्।
कर्त्तुमारभतैताभिर्विदग्धाभिः सनर्त्तनम् ॥१॥

अब श्रीकृष्ण ने व्रजाङ्गनाओं के साथ नृत्य करते हुए नाना प्रकार के तालों में विभिन्न प्रकार के प्रबन्ध गान आरम्भ किया ॥१॥

श्रीराधाया नृत्यति कृष्णचन्द्रे
गायन्त्य आसन् ललितादयस्तदा।
चित्रादयोऽन्याः किल तालधारिका
वृन्दादयः सभ्यतया व्यवस्थिताः ॥२॥

प्रथम श्रीराधा सहित श्रीकृष्ण ने नृत्य तथा ललितादि कुछ सखियों ने गान आरम्भ किया, चित्रादि कुछ सखियाँ ताल देने लगीं तथा वृन्दा आदि कुछ सखियाँ नृत्य गान के गुण-दोष के विवेचक सभासद् के रूप में अवस्थान करने लगीं ॥२॥

कृष्णे नृत्यत्येकले राधिकाद्या गायन्ति स्माश्चर्य्यतालैर्दुरूहैः।
तस्मिन् सभ्ये राधिकाद्याः क्रमेणाश्चर्य्यं नृत्यं साङ्गहारं व्यधुस्ताः ॥३

पश्चात् श्रीकृष्ण अकेले नृत्य करने लगे तो श्रीराधा आदि प्रिया वृन्द अत्यन्त कठिन ताल में गाने लगीं। फिर श्रीकृष्ण सभासद् बने तो श्रीराधा आदि सखियाँ विविध अङ्ग-भङ्गिमा सहित आश्चर्य नृत्य करने लगीं ॥३॥

रङ्गे क्रमाच्छ्रेणितयास्थितानामन्तःपटत्वं नटतां गतानाम्।
वीणादिवाद्यावलिधारिकाणां नानाप्रबन्धादिकगायिकानाम् ॥४
ततघनशुषिराढ्यानद्धकण्ठस्वरौघे
मृदुविविधगतित्वेऽप्यैक्यमाप्तेऽङ्गनानाम्।
तदनुगपदतालैर्भ्रूकराङ्गाक्षिचालै-
र्ननृतुरिह सकृष्णस्ताः प्रविश्य क्रमेण ॥५॥ युग्मकम् ॥

प्रथम श्रीकृष्ण आदि सबों के नृत्य का सम्मिलित वर्णन करते हैं, यथा :- रङ्गस्थल पर ब्रजसुन्दरियों के पंक्तिबद्ध गोलाकार मण्डल पर मण्डल थे। यह मण्डल अन्तः पट अर्थात् आवरण का कार्य कर रहे थे। सखियाँ वीणा, मृगङ्ग, आदि नाना प्रकार के वाद्य बजा रही थीं तो कोई नाना प्रकार के प्रबन्ध गान कर रही थीं। उस समय वीणा, झांझ, मृदङ्ग, वंशी व कण्ठ स्वरों की विविध ध्वनियों का नृत्य विविध मृदु गतियों से मेल हो रहा था। नृत्य की विविधगतियाँ अत्यन्त ही मृदु होने पर भी न तो वाद्य- ध्वनि ही कर्कश होने पायी और न कण्ठस्वर ही तीव्र होने पाता-जैसी गति वैसी ही ध्वनि और जैसी ध्वनि वैसी गति का मेल था। इस मेल से नृत्य-वादन कारिणी, अन्त पट स्वरूपा मण्डलियों में श्रेणीबद्ध रूप से स्थिता गोपियों के रङ्गस्थल में प्रवेश करके उनकी चरण-चाल का अनुगमन करते हुए (अर्थात् उनकी चाल से अपनी चाल मिलाते हुए), भृकुटि, हस्त, अङ्ग व नेत्रों की भङ्गिमा प्रकट करते हुए क्रम से श्रीकृष्ण, श्रीराधा, ललिता आदि सखियों ने नृत्य किया ॥४-५॥

कृष्णः श्रीमान्मुहुरिह समागत्य तासां समध्या-
न्नानातालक्रमवशतया चालयन् श्रीपदाब्जे।
धुन्वन् पाणी नटति निगदन्नित्थमानन्दयंस्ता-
स्तत्ता तत्थे दृगिति दृगित्थै दृक् तथै दृक् तथै था ॥६॥

अब श्रीकृष्ण का पृथक् नृत्य वर्णन करते हैं :- श्रीमान् (परम शोभायमान) श्रीकृष्ण पुनः-पुनः उनके मध्य से निकल रङ्गस्थल पर आगमन कर नानाविध ताल व क्रम सहित सुन्दर चरण व हस्त युगल को चलाते हुए "ता तत्ता तत्थे, दृगिति दृक्तत्थै, दृक् तत्थै था" 'बोल बोलते हुए सखियों को आनन्दित कर नृत्य करने लगे ॥६॥

थो दिक् दां दां किट किट कणझें थोक्कु थो दिक्कु आरे
झें द्रां झें द्रां किटिकिटिकिटिधां झेङ्कु झें झेङ्कु झें झेम्।
थो दिक् दां दां दृमि दृमि दृमि धां काङ्कु झें काङ्कु झें द्रा-
मागत्यैवं नटति स हरिश्चारुपाठप्रबन्धम् ॥७॥

"थो दिक् दां, दां, किट, किट, कनझें, थोक्कु, थो दिक्कु, और झें द्रां झें द्रां, किटि किटि किटि धां झेंकु, झें, झेङ्कु झें, झें, थो दिक् दां दां दृमि दृमि दृमि धां, काङ्कु झें, काङ्कु झें, काङ्कु झें, द्रा-इत्यादि मृदङ्ग के बोल बोलते हुए श्रीकृष्ण सहसा आगमन कर सुचारु प्रबन्ध पाठ करते हुए नृत्य करने लगे ॥७॥

कूजत् काञ्चीकटकविरणन्नूपुरध्वानरम्यं
पाणिद्वन्द्वं मुहुरिह नदत् कङ्कणं चालयन्ती।
राधाकृष्णद्युतिघनचये चञ्चलेव स्फुरन्ती
नृत्यन्तीत्थं गदति तथथै थै तथै थै तथै था ॥८॥

श्रीराधा का नृत्य वर्णन :- श्रीकृष्ण की अङ्गकान्ति रूप मेघ मण्डल के मध्य में बिजली की भाँति श्रीराधा अपने मनोहर बजते हुए किङ्किणी, कटक (कड़ा, पहौंची) व नूपुरों की ध्वनि के साथ रमणीय कङ्कण ध्वनि युक्त हस्तों को चलाती हुई, "तथथै, थै, तथै, थै, तथै था" बोल बोलती हुई नृत्य करने लगीं ॥८॥

धां धां दृक् दृक् चङ चङ निङांणं निङांणं निङांनां
तुत्तुक् तुं तुं गुड्ड गुड्ड गुड्ड धां द्रां गुड्ड द्रां गुड्ड द्राम्।
धेक् धेक् धो धो किरिटि किरिटि द्रां द्रिमि द्रां द्रिमि द्रा-
मागत्यैवं मुहुरिह मुदा श्रीमदीशा ननर्त्त ॥९॥

धां धां दृक् दृक्, चङ् चङ् निङ्ां नं, निङ्ां नं निङ्ां, नं तुत्तुक्तु तुं, गुड्डू गुड्डुधां, द्रां, गृड्डुदां गुड्डुद्रां, धेक् धेक् धो धो, किरिटि किरिटी, द्रां, द्रिमि द्रां, द्रिमि दां इस प्रकार से मदीश्वरी श्रीराधा आगमन कर नृत्य करने लगीं ॥९॥

झं झं कुर्व्वत् कनकवलये धुन्वती पाणिपद्मे
तासां मध्यात् सपदि ललिताऽप्यागता कृष्णकान्त्या।
श्याम रङ्गे तड़िदिव घने नृत्यतीत्थं वदन्ती
थै थै थो थो तिगड़ तिगड़ थो तथै थो तथै ता ॥१०॥

अथ ललिता नृत्य वर्णन :- अब ललिता भी उनके मध्य में आकर अपने कञ्चन वलय युक्त हस्त पद्मों को झङ्कारती हुई श्यामकान्ति से श्यामा बनी हुई रङ्गस्थल में "थै, थै, थो, थो तिगड़ तिगथै, थो, तथै, थो, तथै, ता" बोलती हुई बिजली की भाँति नृत्य करने लगीं ॥१०॥

दृमि दृमि दृमि धो धो धो मृदङ्गादिनादैः
कण कण कण वीणाशब्दमिश्रैर्विशाखा।
नटति झणन झं झत्कार्य्यलङ्कारजाला
दृगिति दृगिति दृक्थै थो तथो थो ब्रुवाणा ॥११॥

विशाखा-नृत्य-वर्णन :- तब विशाखा भी जिनके अङ्ग के आभूषण जाल झनन् झंझन् झन् कर रहे थे, वीणा के कण कण कण, शब्दों से

मिश्रित मृदङ्ग के दृमि दृमि दृमि, धो धो धो, शब्दों के साथ दृगिति दृगिति दृक थै थो तथो बोलती हुई नृत्य करने लगीं ॥११॥

काचित् स्वनन्नूपुरकिङ्किणीका मुहुः क्वणत् कङ्कणपाणियुग्मम्।
विधुन्वतीत्थं नटतीरयन्ती थैया तथैया तथथै तथैया ॥१२॥

अन्य सखियों का नृत्य वर्णन – कोई सखी छमछमाते हुई नूपुरों व किङ्किणी के साथ झनझनाते हुए कङ्कणयुक्त हस्तों को हिलाती हुई थैया, तथैया, ततथै, तथैया बोलती हुई नृत्य करने लगीं ॥१२॥

पादन्यास्यैः श्रीकरद्वन्द्वचालैर्नृत्यत्यन्या नूपुरध्वानमिश्रैः।
तालोत्थानायेत्थमुच्चारयन्ती थै थै थै थै थै तथै थै तथै था ॥१३

कोई गोपी नूपुरध्वनि मिश्रित चरणों को चलाती एवं श्रीहस्तों को हिलाती हुई ताल के उत्थान के लिए , "थै, थै, थै, थै, थै, तथै, थै तथै, था" इस प्रकार बोलती हुई नृत्य करने लगी ॥१३॥

रङ्गं प्राप्ता तदनु तथान्या नृत्यन्ती सा लपति तदेत्थम्।
थैया थैया तथ तथ थैया थैया थैया तिगड़ तथैया ॥१४॥

तब अन्य कोई गोपी रङ्गस्थल पर आकर "थैया, थैया, तथ, तथ, थैया, थैया, थैया, तिगड़ तथैया" कहती हुई नृत्य करने लगी ॥१४॥

आ आ इ आति आआति अइ अति अआ आतिआ आतिआ आ–
आ आ ज्योत्स्नोज्ज्वलाङ्गं नटदिव पुलिनं राधिके पश्य आरे।
आ आ आ, आति आ आ, नटति च विपिनं मन्दवातेरितं आ
आ आ आ एति कृष्णः पुनरिह निगदन् सालसाङ्गं ननर्त्त ॥१५॥

इस प्रकार सखियों के नृत्य करने पर श्रीकृष्ण पुनः उल्लसित होकर नृत्य करने लगे। कैसे? श्रीकृष्ण कहते हैं, "आ आ, इ आति आ आति, अइ आति, अ आ आति, आ आति, आ आ, – हे राधे! देखो ज्योत्स्ना से उज्ज्वल अङ्ग बनकर यह पुलिन मानो नृत्य कर रहा है। आ आ आ आति, आ आ, – वन भी मन्द वायु से सञ्चालित हो नृत्य कर रहा है, आ आ आ एति" – कहकर आलस अङ्ग से नृत्य करने लगे ॥१५॥

आइ अ आइ अतिप्रियहासश्चन्द्रति कुन्दति हंसति आरे।
क्षीरति हीरति हारति आरे आइ अ आइ अ नृत्यति राधा ॥१६

श्रीराधा भी (अलसाङ्गी हो) कहने लगीं – "हे प्रिय! तुम्हारा हास्य, चन्द्रमा, कुन्द, हंस, क्षीर, हीरा, व हार (मुक्ता) के समान उज्ज्वल

शोभा देता है। 'आ इ अ आ इ अ' ऐसा कहती हुई नृत्य करने लगीं। (हंसी चन्द्रमा के समान आह्लाद देती, कुन्दपुष्प की भाँति खिलती व कुन्द-कलियों की भाँति शोभा देती है। हंस के समान विलास करती हुई सबको सुख देती, क्षीरवत् मधुर रुचिकर लगती, हीरा के समान दमकती तथा हार (मुक्ता-मोती) की भाँति श्रेणी बद्ध शोभा देती हैं॥११६॥

ता धिक् ता धिक् धिगिति निनादं कुर्व्वन् रासे वरमुरजोऽयम्।
लास्यै रासामतिशयतुष्टो निन्दत्यन्याः सुरवनिताः किम्॥१७॥

श्रीब्रजसुन्दरियों के नृत्य कौशल की सर्वोत्कृष्टता वर्णन करते हैं :- यह वर (श्रेष्ठ उत्तम), मृदङ्ग रास में ''ता धिक् ता धिक् धिक्'' शब्द करता हुआ मुझे ऐसा लगता है कि यह ''उनको धिक्कार है, उनको धिक्कार है, धिक्कार कह कहकर ब्रज सुन्दरियों के नृत्य कौशल से अतिशय प्रसन्न हो मानो सुरबाला उर्वशी, रम्भा आदि तथा गन्धर्व किन्नरी आदि का तिरस्कार कर रहा है। (मृदङ्ग की श्रेष्ठता इसी में है कि यह अचेतन हो करके चेतन की भाँति सारासार विवेक में चतुर है)॥१७॥

वैणिक्यो वैणविक्यश्च गायन्त्यस्तालधारिकाः।
मौरजिक्यश्च नृत्यन्ति नर्त्तकीभिः समं मुदा॥१८॥

उनके नृत्योल्लास का वर्णन :- नृत्यकारिणी गोपियों के अद्‌भुत नृत्य के दर्शन कर वीणा बजाने वाली, वेणु बजाने वाली, ताल देने वाली तथा मृदङ्ग बजाने वाली गोपियाँ भी आनन्द के वेग में नृत्य करने लगीं। अपना अपना साज बजाती हुई नृत्य करने लगीं॥१८॥

आविष्टानां गाननृत्येङ्गनानां तत्तद्गत्याऽत्युच्छसद्गाढ़बन्धम्।
नीवीवेणीकञ्चुकादि स्वयं तत् कृष्णः क्षिप्रं नृत्यमध्ये बबन्ध॥१९

इस प्रकार वे गान वादन सहित नृत्य में आविष्ट हो गयीं तो गान व नृत्य के अनुसार उनके चरणों की गति व अङ्गभङ्गी अत्यन्त वेगपूर्वक हो जाने के कारण कसकरके बाँधी हुई नीवीवेणी व कञ्चुकादि ढीली हो चलीं जिन्हें तत्काल स्वयं श्रीकृष्ण ने नृत्य करते-करते ही कसकर बाँध दी॥१९॥

ते नानाशब्दबन्धेन ससृजुर्गायनीजनाः।
ष ऋ गा म प धैन्याख्यैः स्वरैरागान्नवान्नवान्॥२०॥

वे गानकारिणी ब्रजबालाएँ षड्ज ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत व निषाद स्वरों में नाना प्रकार के बन्ध (वन्दिस) में नवीन-नवीन उत्तम से भी उत्तम राग प्रकट करने लगीं॥२०॥

स्वरानालापयन् शुद्धान् सङ्कीर्णांश्च सहस्रधा।
गीतञ्च मार्गदेशीयभेदात्ता बहुधा जगुः ॥२१॥

उस समय वे शुद्ध (अमिश्रित) व सङ्कीर्ण (मिश्रित) स्वर आलापती हुईं सहस्रों प्रकार के गीत मार्गी व देशीय भेद से गान करने लगीं ॥२१॥

प्रावृन्नभ इव सघनं सूचीमूलमिव सशुषिरं गानम् ॥
गगनमिवातिततं तद्रत्नमिव बभौ सदानद्धम् ॥२२॥

नृत्य स्थल में प्रकाशित गोपियों के गान की शोभा वर्षाकाल के सघन (मेघयुक्त)आकाश की भाँति सघन (झाँझ आदि वाद्य) युक्त थी, सूची (सुई) के मूल के शुषिर (छिद्र) की भाँति शुषिर (वंशी आदि की ध्वनि) युक्त थी, गगन की भाँति अति तत अर्थात् अतिशय विस्तृत अर्थात् वीणादि ध्वनियुक्त थी तथा रत्न जैसे सदानद्ध (सुन्दर रूप से जड़ा हुआ) होता है वैसे ही गान भी श्रेष्ठ मृदङ्गवाद्य सहित संयुक्त होकर शोभा पा रहा था ॥२२॥

योऽयं महान् ध्वनिरभून्नटनर्त्तकीनां
मञ्जीरसद्वलयकङ्कणकिङ्किणीजः।
पत्तालसम्पदनुगामितया चतुर्षु
वाद्येषु तेषु किल पञ्चमतां स लेभे ॥२३॥

नट (श्रीकृष्ण) व नर्त्तकियों (ब्रजसुन्दरियों) के नूपुर वलय, कङ्कण व किङ्किणी द्वारा जो एक महान् शब्द हो रहा था वह (नृत्य की शोभा को बढ़ाने वाली) चरण गति रूप सम्पत्ति का अनुगमन करता हुआ पूर्वोक्त चार वाद्य - ध्वनियों में एक पाँचवी ध्वनि के रूप में प्रकट हो गया ॥२३॥

आस्ये गीतिस्तदभिनयनं श्रीकरे श्रीपदाब्जे
तालो ग्रीवाकटिषु धुवनं नेत्रयोर्दोलनञ्च।
सव्यासव्यागमनगमनं तारकायां कटाक्षः
कृष्णस्याब्जे मनसिजसुखं वल्लवीनां तदासीत् ॥२४॥

नृत्यकाल में ब्रजसुन्दरियों के मुख में गीत हस्तों से अभिनय (अर्थात् अर्थ प्रकाश) चरणकमलों द्वारा ताल प्रदान, ग्रीवा व कटि में कम्पन, नयनों का इतस्ततः सञ्चालन, दक्षिण व वाम ओर गमनागमन तारकाओं (पुतलियों) में कटाक्ष, ये समस्त ही श्रीकृष्ण के मुखकमल के दर्शन मात्र से अनायास ही सम्भोगसुख के समान सुख कर बन गये ॥२४॥

जातयः श्रुतयो याश्च मूर्च्छनागमकाश्च ये।
नोच्चरन्ति विना वीणां कण्ठे तांस्तांश्च ता जगुः ॥२५॥

रागों की जो जातियाँ, श्रुतियाँ, मूर्च्छनाएँ व गमकें वीणा के अतिरिक्त उच्चारित हो नहीं सकती हैं, उन सबको व्रजाङ्गनाएँ अपने-अपने कण्ठ से उच्चारण करने लगीं ॥२५॥

असंमिश्रा जातीः श्रुतिगमकरम्याः स्वरतते:
समुन्नीन्येयैका मुदितहरिणा साध्विति गिरा।
पुपूजे तेनेयं तदपि च तदायासमनयद्
ध्रुवाभोगं सास्मादलभततरां मानमधिकम् ॥२६॥

कोई एक सुन्दरी ने स्वर, समूहों की जाति को विशुद्ध रूप से व्यक्त कर उनकी श्रुतियों व गमकों को मनोहर बना ऊँचे स्वरों में गान किया तो श्रीकृष्ण ने आनन्दित हो "साधु-साधु" कहकर उसे सम्मान दिया। तब तो वह सुन्दरी उस पद को ध्रुव ताल में गाती हुई अन्तिम भाग आभोग तक ले गयी जिस पर श्रीकृष्ण ने उसे पहले से भी अधिक सम्मान प्रदान किया ॥२६॥

छालिक्यनृत्ये राधाया देयमन्यदपश्यता।
तुष्टेनात्माऽर्पितस्तस्यै कृष्णेनालिङ्गनच्छलात् ॥२७॥

तब श्रीराधा ने "छालिक्य" नामक नृत्य प्रकट किया जिससे श्रीकृष्ण परम सन्तुष्ट हुए तथा इसके लिए कोई उपयुक्त दान न देख कर उन्होंने आलिङ्गन के छल से आत्मा ही समर्पण कर दिया ॥२७॥

कृष्णे कान्तां नटयति मुदा क्वापि वंशीप्रगाणे-
र्नर्मोन्नीतं स्खलनमिह सा तस्य दृष्ट्या दिशन्ती।
तालं तस्य स्खलितमपि संभालयन्त्यात्मनो द्राक्
तं चाप्येषा नटयति तथा क्वापि वीणादिगानैः ॥२८॥

नृत्य में एक समय श्रीकृष्ण वंशी बजाते हुए प्रिया को नृत्य करा रहे थे, तो श्रीराधा ने परिहास पूर्वक उनके गाने के भूल को नेत्र-भृङ्गी द्वारा सूचित कर दिया। श्रीकृष्ण गाते समय अथवा सखियों को देख ताल चूक गये तो श्रीराधा ने उनके भूल को तुरन्त संभाल लिया। कभी श्रीराधा वीणा आदि बजाकर श्रीकृष्ण को नृत्य भी करातीं ॥२८॥

कृष्णेन राधाऽथ तया समं हरिर्यथा ननर्त्तात्र जगाववादयत्।
साहाय्यकोत्कापि तयोः सखीततिर्नालं तथासीन्नृतिगानवादने ॥२९

इस रङ्गस्थल में श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा और फिर श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार नृत्य, गान व वादन किये, सखियाँ उनकी सहायता के लिए उत्कण्ठिता होती हुई भी, वैसा नृत्य, गान व वादन करने में समर्था न हो सकीं ॥२९॥

तालावसाने हरिरात्मपाणिन्यासं प्रियावक्षसि संविधत्ते।
प्रियापि सव्येन करेण तुष्टा निरस्यतीशस्य करं रुषेव ॥३०॥

ताल की समाप्ति पर श्रीकृष्ण ने अपना हस्त प्रिया के वक्षःस्थल पर स्थापन किया। प्रिया श्रीराधा प्रसन्न होती हुई भी मानो तो रुष्ट हों अपने बाएँ हस्त से प्रियतम श्रीकृष्ण का हस्त हटा देती हैं ॥३०॥

जानुभ्यां क्षितिमालम्ब्य प्रसार्य्यैका ततौ भूजौ।
जुघूर्णे काञ्चनीवेगक्षिप्तेव स्मरचक्रिका ॥३१॥

एक गोपी दोनों घुटनों द्वारा भूमि का सहारा ले, बाँहों को फैलाकर, बड़े जोर से फैङ्के हुए काम-चक्र की भाँति चक्कर काटने लगी ॥३१॥

लीलोत्सर्पापसर्पाभ्यां दोः प्रसारनिकुञ्चनैः।
अङ्गान्यङ्गैः स्पृशन्त्यन्या नृतिं चक्रेऽन्यदुष्कराम् ॥३२॥

अन्य एक गोपी उछलती-भागती बाँहों को सिकोड़ती फैलाती तथा एक अङ्ग से दूसरे अङ्ग को छूती हुई नृत्य करने लगी जो औरों के लिए दुष्कर था ॥३२॥

स्पृष्ट्वा करैकेन भुवं क्वचित् परा देहं परावृत्य मुहुर्मुहुर्दिवि।
पतन्त्यनृत्यद्भुवि सा कदाप्यसौ विना तदालम्बनमम्बरे परम् ॥३३

अन्य कोई गोपी कभी एक हाथ से भूमि स्पर्श कर आकाश में अपनी देह को बारंबार घुमाकर भूमि पर पतित हो (आकर) नृत्य करती और कभी-कभी भूमि का सहारा लिये बिना ही निराधार अधर (शून्य) में नृत्य करने लग जाती ॥३३॥

ऊर्द्ध्वेस्थितोत्तानतया विभुग्ना क्षीणोदरी पार्ष्णिगवेणिरेका ॥
ननर्त्त पृष्ठाततशिञ्जिनीका कृष्ट्वा तनोर्हेमधनुर्लतेव ॥३४॥

अन्य एक क्षीण उदर वाली गोपी उत्तान (चित्त) हो मुख ऊपर कर उदर को टेढ़ा उठा, जूड़ा को एड़ी से मिला नृत्य करने लगी। उस समय उसकी पीठ सुवर्ण की धनुलता के समान प्रतीत होती थी ॥३४॥

मञ्जीरान्तर्गतविवरगान् कापि तालानुरोधा-
देकद्वित्रिक्रमवशतया वादयन्ती कलायान्

सर्व्वान् क्वापि स्थगयति पदौ चालयन्त्यत्यपूर्व्वं
नृत्यन्त्येषा गुणिभिरखिलैः साधुवादैः पुपूजे ॥३५॥

कोई गोपी चरण चलाती हुई नूपुर के दानों को ताल के अनुसार एक, दो, तीन, चार- इस क्रम से बजाने लगी और कभी सब ही दानों को निःशब्द करके अत्यन्त अपूर्व नृत्य करने लगीं। यह अवलोकन कर रङ्गस्थल के सब गुणी जन "साधु-साधु" कहकर प्रशंसा करने लगे ॥३५॥

गीतं वाद्यञ्च नृत्यं विधिशिवरचितं यच्च वैकुण्ठलोके
यल्लक्ष्मीकान्तलक्ष्मीचयनयरचितं स्वेन यद्‌यत् प्रणीतम्।
अन्यागम्यं यदाभिर्व्रजवरललनानर्त्तकीभिश्च सृष्टं
रासे कृष्णस्तदेतन्मुहुरिह कुतुकी सर्व्वमाभिर्व्यतानीत् ॥३६॥

वैकुण्ठ में श्रीभगवान् के संतोष के लिए ब्रह्म, शिवादिकों ने प्रयत्नपूर्वक जितने प्रकार के गीत, वाद्य व नृत्यों की रचना की है; लक्ष्मीकान्त व लक्ष्मीकुल के द्वारा रचित जितने नृत्य-गीतादि हैं, तथा सकल कला गुरु स्वयं श्रीकृष्ण ने जो-जो रचना की है एवं ब्रज की श्रेष्ठ ललना नर्त्तकियों ने जिन-जिन नृत्य की सृष्टि की है, जो औरों के लिए असाध्य हैं, उन समस्त नृत्य, गीतादि को रास में कौतुकी श्रीकृष्ण ने श्रीराधा आदि ब्रजसुन्दरियों के द्वारा पूर्व से कहीं अधिक विस्तार के साथ प्रकट किया ॥३६॥

काश्चित् पश्यति काश्च चुम्बति पराः साकूतमालोकते
कासाञ्चिद्दशनच्छदौ पिबति सोऽन्यासां कुचौ कर्षति।
वक्षोजे नखरानतर्कितमधात् कासाञ्च नृत्ये भ्रम-
न्नेवं रासमिषेन ताः स रमयन्रेमे रसाब्धौ हरिः ॥३७॥

श्रीकृष्ण नृत्य में भ्रमण करते-करते अतर्कित रूप से किसी गोपी का दशन, किसी का अधर, ओष्ठ चुम्बन, किसी के प्रति साभिप्राय-अवलोकन, किसी का कुचाकर्षण एवं किसी के स्तन पर नखाघात करते हुए रास के छल से रस-सागर में श्रीराधा आदि को रमण कराकर स्वयं रमण करने लगे ॥३७॥

एवं गायन् गाययंस्तान् स्वदारां-
श्चित्रं नृत्यन्नर्त्तयन्नर्त्तितस्तैः।
गीतश्चैतान् श्लाघयन् श्लाघितस्तै-
रेमेऽत्युच्चैर्बालको वा स्वबिम्बैः ॥३८॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी दाराओं (पत्निओं) को गान व नृत्य करा तथा स्वयं उनके द्वारा गीत व नर्तित हो आश्चर्य रूप से गान व नृत्य किया तथा उनकी प्रशंसा करते व उनके द्वारा प्रशंसित होते हुए बालक जैसे अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसके साथ खेलता है, वैसी ही गोपियों द्वारा प्रशंसित होकर श्रीकृष्ण उनके साथ विविध रासबिहार सम्पादन करने लगे ॥३८॥

काचित् समाघ्रायभुजं निजांसे न्यस्तं हरेः साधुपटीरलिप्तम्।
आनन्दमग्नोत्पुलकाश्रुकम्पा सञ्चुम्ब्य शम्पेव बभौ स्थिराभ्रे ॥३९

कोई गोपी श्रीकृष्ण के चन्दन-लिप्त बाँह को अपने कँधे पर रख उसे आघ्राण (सूंघने) करने लगी तथा उसके आनन्द में निमग्न हो कम्प, अश्रु व पुलकयुक्त बनी हुई वह मेघ में स्थिर बिजली की भाँति शोभा देने लगी ॥३९॥

सा नृत्यजाश्रान्तिरमूर्मृगाक्षीर्विश्रामयामास विलासवृन्दात्।
स्नेहाकुलालीव विभूषयन्ती स्वेदाङ्कुरैर्भालकपोलयोस्ताः ॥४०॥

उस रास-नृत्य में जो गोपियों को श्रान्ति (थकान) हुई उसी ने स्नेहाकुल सखी की भाँति उनके ललाटों व कपोलों को श्रमबिन्दुओं द्वारा विभूषित करके मानो उनको विलाससमूह से विश्राम कराया अर्थात् यद्यपि वे श्रीकृष्ण के सङ्ग विलास में अतृप्त ही थे तथापि समयानुसार प्राप्त श्रान्ति की सेवा को उन्होंने अङ्गीकार कर अर्थात् वे विश्राम करने लगीं ॥४०॥

शिथिलवसनकेशाः श्वासवेल्लत्कुचाग्राः
श्रमजलयुतभालाः सालसाङ्गयः क्रियासु।
क्लमजनितरुचापि प्रेष्ठनेत्रातितुष्टिं
पुपुषुरधिकमेता रासनृत्यावसाने ॥४१॥

रास-नृत्य की समाप्ति पर गोपियों के वस्त्र व केश शिथिल हो गये थे श्वासोच्छवास से कुचाग्र-भाग कम्पित हो रहे थे, कपोलों पर श्रम बिन्दु झलक रहे थे, प्रतिअङ्गों में आलस्य भर गया था ऐसी उनके श्रमजनित कान्ति (शोभा) भी श्रीकृष्ण के नयनों को अतिशय आनन्द प्रदान कर रही थी ॥४१॥

फुल्लपुण्डरीकषण्डगर्व्वखण्डिचक्षुषो-
हिण्डदण्डजेशकुण्डलेऽस्य गण्डमण्डले।
कापि ताण्डवातिपण्डितास्वगण्डमण्डलं
न्यस्य तेन दत्तमत्तिपर्णपूगचर्व्वितम् ॥४२॥

प्रफुल्लित पुण्डरीक समूह के गर्व को खर्व करने वाले नेत्रशाली श्रीकृष्ण के मकराकृति कुण्डल युत कपोलों से कोई एक गोपी अपने कपोलों को सटाकर श्रीकृष्ण के दिये हुए पान व सुपारी को चबाने लगी ॥४२ ॥

स्वस्पर्शोत्पुलकाकीर्णे तत्स्पर्शोत्पुलकाञ्चितम्।
कृष्णस्यांसे भुजं न्यस्य विशश्राम क्षणं परा ॥४३ ॥

कोई एक गोपी अपने स्पर्श से पुलकपूर्ण श्रीकृष्ण के कँधे पर उनके स्पर्श से पुलकपूर्ण अपनी बाँह को रखकर क्षणभर के लिए विश्राम करने लगी ॥४३ ॥

कुचशिरसि निधायान्योन्यसंस्पर्शहर्षात्
पुलकिनि पुलकाढ्यं स्वेदिनिस्वेदयुक्तम्।
शतशत–शशिशीतं नृत्यजक्लान्तिदिग्धा
स्वरमणकरमेका श्रान्तिशान्तिं जगाम ॥४४ ॥

कोई दूसरी गोपी नृत्य के श्रम से क्लान्त होकर अपने कुचों के शिरोभाग पर श्रीकृष्ण के हस्त स्थापनकर श्रम से शान्ति लाभ करने लगी। उस समय परस्पर संस्पर्श जन्य आनन्द से उसके कुचाग्र भाग व श्रीकृष्ण के हस्त भी पुलक व स्वेदयुक्त हो गये तथापि श्रीकृष्ण के वे हस्त शत–शत शशधर (चन्द्रमा) से भी अधिक सुशीतल प्रतीत हुए ॥४४ ॥

मुहुः कराब्जेन दयाब्धिमग्नस्तासां मुखात् स्वदेजलानि कृष्णः।
संमार्जयन्नप्यशकन्नमार्ष्टुं तत्स्पर्शसौख्याद्द्विगुणीकृतानि ॥४५

श्रीकृष्ण दया के सागर में निमग्न होकर अर्थात् अतिशय दयार्द्र होकर अपने कर कमलों द्वारा ब्रजाङ्गनाओं के मुखमण्डल से स्वेदजल बारंबार पोंछते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण के हस्त के स्पर्श के कारण सात्त्विक भावों के उदय होने से स्वेद–जल दुगुना बढ़ता ही गया जिससे श्रीकृष्ण बारंबार पोंछते हुए भी पोंछ न सके ॥४५ ॥

एकासु सख्यामृतदिग्धबुद्धिः कान्तस्य संव्यानपटाञ्चलेन।
ममार्ज सस्वेदजलं निजास्यं स्वस्यापि तेनास्य च तादृशं तत् ॥४६

और एक गोपी सख्यरूपी अमृत–समुद्र में भीगी बुद्धिवाली अर्थात् भय, सङ्कोच हीन समान भाववाली कान्त श्रीकृष्ण के उत्तरीय वस्त्र के अञ्चल से ही अपने मुख का पसीना पोंछने लगी और श्रीकृष्ण ने भी उस गोपी की साड़ी से अपने मुख का पसीना पोंछ लिया ॥४६ ॥

कृष्णाङ्गसङ्गादिविलाससिन्धावानन्दजालस्य तरङ्गमग्नाः।
भ्रस्यत् स्वमाल्याम्बरकुन्तलानां मासन्नलं सम्वरणे मृगाक्ष्यः॥४७

कुछ मृगनयनियाँ श्रीकृष्ण के अङ्ग–सङ्ग रूपी विलास सागर के आनन्दरूपी तरङ्गों में ऐसी डूब गयीं कि अपने अङ्गों के खिसलते हुए वस्त्र, मालाएं व केशों को संभालने में असमर्थ हो गयीं॥४७॥

इत्थं समाप्य विविधाङ्गमनन्यसिद्धं
ताभिः समं सरसरासविलासनृत्यम्।
प्रोद्यत्स्मरं पुनरमुं रतिकेलिनृत्यं
कर्त्तुं समुत्कमनसं हि विविद्य वृन्दा॥४८॥
हिमवालुकवालुकेऽमले, पुलिने सह राधयाऽच्युतम्।
विनिवेश्य तयोः पुरः सखीनिचयं सगणान्यवीविशत्॥४९॥
॥ युग्मकम्॥

इस प्रकार श्रीवृन्दादेवी ने श्रीकृष्ण का व्रजसुन्दरियों के साथ विविध–अङ्ग वाले अनन्यसिक्त सरस रास विहार का समापन करके कामोच्छलित मूर्त्ति अच्युत श्रीकृष्ण को पुनर्बार रतिकेलि नृत्य के लिए उत्कण्ठित समझ, कर्पूर कणाओं की भाँति सुविमल बालुकाओं से व्याप्त यमुना पुलिन में श्रीराधा सहित श्रीकृष्ण को पधराकर उनके सन्मुख सखीसमूह को अपने–अपने कार्य में नियुक्त किया॥४८–४९॥

कुसुमफलरसैस्तैर्भूरिभेदैः कृतानि
मणिचषकभृतानि स्वादुवैशिष्ट्यभाञ्जि।
विविधफलविदंशैरन्वितानि न्यधात् सा
हरि हरि दयितानामग्रतः सन्मधूनि॥५०॥

तब श्रीवृन्दादेवी ने नाना प्रकार के कुसुमफलों के रस से बने हुए विशेष स्वादिष्ट मधु को मणिनिर्मित पान पात्रों में भर कर नाना प्रकार के फलों को विदंश के रूप में (मधु–मन्दिरा के साथ खाये जाने वाले पदार्थों को विदंश कहा जाता है) श्रीकृष्ण व श्रीराधा के सन्मुख लाकर रक्खा॥५०॥

प्रत्यङ्गनायुगलमध्यमसौ स्वशक्त्या
कृष्णः स्फुरंस्तदधरामृतवासितानि।
हासैर्विदंशसदृशैरपि तैर्विदंशै–
स्ताः पाययन्नपिबदेष मधूनि तानि॥५१॥

तब श्रीकृष्ण अपनी ऐश्वर्य-शक्ति प्रकाशित कर, प्रत्येक गोपी के मध्य में शोभा को प्राप्त हुए तथा हासपरिहास पूर्वक उनके ओष्ठों पर दन्ताघात करते हुए विदंश के साथ उनको मधुपान कराने और स्वयं करने लगे ॥५१॥

कन्दर्पमाध्वीकमदाकुलाङ्गीं कन्दर्पमाध्वीकमदानुशिष्टे।
राधां समादाय हरौ प्रविष्टे विन्यस्ततल्पं पुलिनान्तःकुञ्जम् ॥५२॥
कन्दर्पमदवैक्लव्याद्घूर्णापूर्णेक्षणाः सखीः।
वृन्दाप्यादाय कुञ्जेषु पृथक् पृथगशाययत् ॥५३॥ युग्मकम् ॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने, कन्दर्प व माध्वीक के मद से उन्मत्त होकर कन्दर्प व माध्वीक के मद से विह्वल बनी हुई प्रियतमा श्रीराधा को सङ्ग ले विचित्र शय्या से शोभित पुलिन के कुञ्ज में प्रवेश किया। वृन्दादेवी ने भी कन्दर्पमद से व्याकुल घूर्णपूर्ण नेत्रों वाली सखियों को ले जाकर पृथक्-पृथक् कुञ्जों में शयन करा दिया ॥५२-५३॥

स्वाधीनभर्त्तृकावस्थां प्रापय्य राधिकां तया।
सहाययौ बहिः कृष्णः स्मयन् पूर्णमनोरथः ॥५४॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को स्वाधीनभर्तृका अवस्था को प्राप्त कराया अर्थात् क्रीड़ा के अन्त में उनकी वेशभूषा उनके ही आदेश से श्रृङ्गार करके, उनके साथ पूर्ण मनोरथ हो हँसते- हँसते कुञ्ज से बाहर पधारे ॥५४॥

तयेरितः स कुञ्जेषु प्रविश्य युगपत् पृथक्।
स्वाधीनभर्त्तृकावस्थां प्रापयामास ताः सखीः ॥५५॥

तब श्रीराधा द्वारा प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने प्रत्येक सखी के कुञ्ज में एक ही समय में प्रवेश किया तथा पूर्वोक्त रीति से पृथक्- पृथक् सब सखियों को स्वाधीन-भर्तृका अवस्था प्राप्त कराया ॥५५॥

निर्गतः कुञ्जनिकरात् कृष्णस्ताभिरलक्षितः।
एकः सन् राधिकामागात् स्वदर्शनमृदुस्मिताम् ॥५६॥

पश्चात् श्रीकृष्ण सखियों द्वारा अलक्षित रूप में कुञ्जों से बाहर निकल अनेक से पुनः एक बन श्रीराधा के समीप आ गये। श्रीराधा उनके दर्शन से मधुर मृदु मुसकराने लगीं ॥५६॥

तत्रागता कुञ्जततेर्निवीता दृष्ट्वा निजालीं पुरतो हसन्तीं।
यत्नावृतस्वाङ्गचयालिपालिर्नम्राननना लोलदृगेतयोचे ॥५७

सखियों ने कुञ्जों से बाहर निकलकर सन्मुख अपनी सखी श्रीराधा को हँसती हुई देखा तो वे लज्जा से नीचे मस्तक कर, अङ्गों को वस्त्रों से आवृत कर, चञ्चल नयनी बनी स्थित रहीं। तब उनसे श्रीराधा बोलीं ॥५७॥

यो नायकः सोऽत्र सवृन्दया मया
रङ्गे स्थितः क्वापि गतो नहि क्षणम्।
नानर्त्तयद्वो रतिनर्त्तनेऽसकौ
दशे दृशी वो वपुषः कुतोऽभवत् ॥५८॥

जो नायक है श्रीकृष्ण वे तो इस रङ्गस्थल में वृन्दा और मेरे सङ्ग ही रहे, क्षण भर के लिए भी बाहर नहीं हुए, किस नायक ने तुम को रति-नृत्य में नचाया है। अन्यथा तुम्हारे शरीरों की ऐसी दशा कैसे हो गयी ॥५८॥

हरिर्हसन्नाह निकुञ्जरङ्गे नट्यस्त्विमा मूर्त्तिमतोज्ज्वलेन।
रत्याख्यनृत्ये रसनायकेन संनर्त्तिता यत् स्फुटतत्तदङ्काः ॥५९॥

यह श्रवण कर श्रीकृष्ण हँसते-हँसते कहने लगे कि जो मूर्त्तिमान् उज्ज्वल रसराज है अर्थात् मैंने ही इस कुञ्ज रूप रङ्गभूमि में इन नटियों को सम्यक् रूप से नचाया है। इसी कारण इनके अङ्गों में नृत्य के चिह्न प्रकट हो रहे हैं ॥५९॥

कृष्णे स्वसख्यां प्रणयोद्गतेर्ष्या स्ता ऊचुरस्मिन् रतिनृत्य एषा।
त्वां नर्त्तयन्ती सततं गुरुस्ते कर्तुं त्वया वाञ्छति नः प्रशिष्याः ॥६०

यह श्रवण कर सखियों ने प्रणय मिश्रित ईर्ष्या के साथ श्रीकृष्ण व निज सखी श्रीराधा से कहा, हे कृष्ण! हमारी यह सखी श्रीराधा ही इस रति नृत्य में सदा तुमको नचाया करती हैं अतएव इस नृत्य में तुम्हारे गुरु ये ही हैं तथा ये तुम्हारे द्वारा हमको भी अनुशिष्य अर्थात् शिष्य का शिष्य बनाना चाहती हैं ॥६०॥

निजेच्छया यात्र गुरूपसत्तिः स्याच्छिष्यता शास्त्रमता तयैव।
बलात्कृता नैव ततो न शिष्यावयं गुरुस्त्वं विफलः श्रमो वाम् ॥६१

जो शिष्य अपनी इच्छा से गुरु सेवा अथवा सङ्ग करता है उसे ही शास्त्र में शिष्य कहा जाता है, परन्तु तुमने गुरु-सङ्ग बलपूर्वक करवाया है जो उपयुक्त नहीं हुआ, अतएव हम शिष्या नहीं हुई एवं तुम दोनों का परिश्रम निष्फल हो गया ॥६१॥

जानासि नो नो नकुलाङ्गनानां वृत्तिं विशुद्धां सखि भोगिनि! त्वम्।
तथापि सम्पादयितुं स्वसाम्यं किं खिद्यसे प्रेर्य्य वृथा भुजङ्गम् ॥६२

हे सखि! हे भुजङ्गिनि! हम नकुल स्त्री हैं। हमारी विशुद्ध (पवित्र) भाव को क्या तुम जानती नहीं हो, अर्थात् जानती हो, तथापि अपने समान हमको भी बनाने के लिए अपने पति भुजङ्ग (सर्प, लम्पट, कामी) को भेज करके अब क्यों वृथा खेद प्रकट कर रही हो?॥६२॥

इत्थं विधाय पुरुनर्म्मविहारनृत्यं ताभिः समं मदकरीव करेणुभिः स।
तत्तच्छ्रमापनयनाय कालिन्दपुत्र्यां कर्त्तुं समारभत वारिविहारनृत्यम् ॥६३

जैसे मदमत्त हस्ती हस्तिनियों के सङ्ग विहार पूर्वक नदी में उतर कर विश्राम लाभ करता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी प्रियाओं के सङ्ग पूर्ण विहार कर नृत्य के अनन्तर उस-उस नृत्य के श्रम को मिटाने के लिए कलिन्द-कन्या यमुना में जलविहार का नृत्य आरम्भ कर दिया॥६३॥

तोये तदोरुद्वयसे कदाचित् स नाभिमात्रे क्व च कण्ठदघ्ने।
आकृष्य तास्ताभिरलं निषिक्तः प्रिया हसंस्ताः कुतुकी न्यषिञ्चत् ॥६४

उस यमुना में कौतुकी श्रीकृष्ण ने उन प्रियाओं को कभी जानु पर्यन्त जल में खींचा तो कभी नाभि पर्यन्त और कभी कण्ठ पर्यन्त जल में खींच ले गये। उन्होंने उनको जल से खूब भिगो दिया तो उन्होंने भी हँसते-हँसते जल से तर-बतर कर दिया॥६४॥

एकैकाभिः पञ्चषाभिः समस्ताभिः पृथक् पृथक्।
नानालीलाग्लहां ताभिर्व्यातुक्षीं विदधे हरिः ॥६५॥

पश्चात् एक-एक गोपी, पाँच-पाँच छः-छः गोपियों अथवा समस्त गोपियों के साथ श्रीकृष्ण ने पृथक्-पृथक् एक-एक मण्डल बना कर नाना प्रकार के विलास का पण (दाव) लगा कर परस्पर जलयुद्ध आरम्भ कर दिया॥६५॥

जये तं तं समादातुं ग्लहं दातुं पराजये।
अनिच्छुभिर्द्वयं कर्त्तुं स ताभिः कलहायते॥६६॥

उस जलयुद्ध में श्रीकृष्ण जिस से जीत जाते उससे अपना पण ले लेते और जिससे हार जाते उसको उसका पण दे देते और जो कोई देने-लेने में आनाकानी करतीं उनके सङ्ग उस समय खूब कलह मचा देते॥६६॥

रात्रौ च चक्रमिथुनेन युतानि भृङ्गः
फुल्लाम्बुजानि पिबतीति हरौ ब्रुवाणे।
दोः स्वस्तिकेन रुरुधुर्हृदयं प्रियास्ता
वासोऽञ्चलेन वदनञ्च विशङ्किता द्राक् ॥६७॥

"रात्रिबेला में चकवा-चकई मिले और भ्रमर प्रफुल्ल कमलों का मधुपान करने लगे" श्रीकृष्ण के ऐसा कहते ही प्रियावर्ग शङ्कित होकर बायीं व दायीं भुजाओं को स्वस्तिका के आकार से बाँध कर अर्थात् बायीं भुजा से दायाँ कंधा और दायीं भुजा से बायाँ कन्धा पकड़कर उनके द्वारा अपने वक्षस्थल तथा वसनाञ्चल के द्वारा अपने मुख कमल को सबने ढक लिया ॥६७॥

निजदृग्विजितशफर्य्या घट्टितप्रसृता स्वयं हरिं चकिता।
यत् परिरेभे राधा सख्यं मेने स तेनास्याः ॥६८॥

श्रीराधा की (चञ्चल) दृष्टि से पराजित होकर शफरी (मछली) ने लज्जा के मारे श्रीराधा के चरणों के मध्य से होकर जंघा को स्पर्श किया तो श्रीराधा चकित होकर स्वयं श्रीकृष्ण से लिपट गयीं - रस सख्यता से श्रीकृष्ण अत्यन्त आनन्दित हो गये ॥६८॥

कमलाकमलि सखीनां कमलाकमलि च विसाविसि प्रधनम्।
यदभूत् तत् पश्यत इह दूराच्चित्रं हरेर्मनोविजितम् ॥६९॥

उधर सखियाँ परस्पर कभी जल, कभी कमल और कभी मृणाल (कमल की डंडी) से परस्पर युद्ध करने लगीं। उसमें किसी भी सखी की जय-पराजय नहीं हुई परन्तु दूर खड़े-खड़े उनके युद्ध को देखने वाले श्रीकृष्ण के मन की पराजय हो गयी - यही आश्चर्य हुआ। तात्पर्य- सखियों के परस्पर जल-युद्ध के दर्शन कर श्रीकृष्ण मुग्ध हो गये ॥६९॥

द्वित्राभिः पञ्चषाभिश्च सप्ताष्टाभिः सहाच्युतः।
व्यतनोन्मण्डलीभूय जलमण्डुकवाद्यकम् ॥७०॥

जब श्रीकृष्ण दो, तीन, पाँच, छः, सात, आठ, गोपियों के साथ मण्डली बनाकर जलमण्डूक वाद्य बजाने लगे ॥७०॥

निर्लेपतां कुचयुगानि निरञ्जनत्वं
नेत्राणि मोक्षमगमन् रसनाः कचाश्च।
नीव्यश्च निर्गुणदशां सह हारमाल्या-
मग्नासु तद्घनरसे रमणीस्वमूषाम् ॥७१॥

उस समय गोपियों के घनरस अर्थात् गाढ़ जल में निमग्न रहने के कारण उनके स्तनयुगल निर्लेप अर्थात् कुङ्कुम, चन्दनादि के लेप से रहित हो गये, उनके नेत्र निरञ्जन अर्थात् काजल शून्य हो गये, करधनी, केश और नीवी (कटिबन्धन) को मोक्ष प्राप्त हो गया (अर्थात् बन्धन खुल गये) तथा मुक्ताहार निर्गुण दशा को प्राप्त हो गया अर्थात् उनका गुण (डोर) छिन्न हो गया। गूढ़ार्थः - गोपियाँ घनरस अर्थात् श्रीकृष्ण रूपी परब्रह्म के अङ्ग संस्पर्श से प्रकृति माया का लेप मिट गया, नयनसमूह निरञ्जन हो गये अर्थात् त्रिगुणात्मक अञ्जन रूप जो शरीरादि उपाधि है उनसे मुक्त हो ब्रह्मस्वरूप हो गये, किङ्किणी, केश व कटि भी मायिक बन्धन से मुक्त हो गये तथा मुक्ताहार भी निर्गुण हो गया अर्थात् तीनों गुण से परे हो गया। तात्पर्य-श्रीकृष्ण के अङ्गसंस्पर्श से गोपियाँ दिव्य चिन्मयी (कृष्णमयी) बन गयीं ॥७१॥

आलेपनालङ्करणैरमूषामनावृता वारिविहारधौता।
क्लिन्नाम्बरोद्यत्सहजाङ्गशोभा लोभाय कृष्णस्य दृशोस्तदासीत् ॥७२

इस प्रकार जलक्रीड़ा में गोपियों के अत्यन्त आसक्त होने पर, उनके अङ्गों में लगे हुए कुङ्कुम-चन्दनादि के लेप रूपी अलङ्कारों के जल विहार में धुल जाने पर जो अनावृत शोभा भीगे तनपर लगे वस्त्रों में से छिटक रही थी, उससे श्रीकृष्ण के नयन युगल अतिशय लुब्ध हो उठे॥७२॥

तासां वक्षश्चन्दनैः श्वेततोया कृष्णा साम्यं गङ्गयाऽसौ गतापि।
शौरेस्तत्तत्केलिसौभाग्यलाभात्ताभिः शश्वत् सुष्ठु सा तामजैषीत् ॥७३

गोपियों के वक्षस्थल के चन्दन से यमुना का जल श्वेत हो जाने से यमुना गङ्गा के समान हो गयी परन्तु गोपियों के सङ्ग श्रीकृष्ण की जल-केलि का सौभाग्य बारंबार होने के कारण ही उसी यमुना ने गङ्गा पर विजय भी प्राप्त कर ली अर्थात् इस अपूर्व अनन्य सौभाग्य के कारण यमुना गङ्गा से श्रेष्ठ बन गयी॥७३॥

इत्थं विधायाम्बुविहारनृत्यं कान्तः सकान्ताभिरवाप्ततीरः।
सखीकुलैर्मार्जितकेशवर्ष्मा दधार प्रत्युद्गमनीयवस्त्रम् ॥७४॥

श्रीकृष्ण इस प्रकार से जल विहार रूपी नृत्य कार्य समाप्त करके कान्तावृन्द सहित तीर पर निकल आये। सखियों ने दोनों के केश व अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पोंछा तब दोनों ने उत्तरीय व परिधेय के रूप में दो-दो स्वच्छ वस्त्र धारण किये॥७४॥

वृन्दा ताभिः समं कृष्णमानीयस्वर्णमण्डपम्।
तत् पूर्व्वकुट्टिमे पुष्पास्तरणे तं न्यवीविशत् ॥७५ ॥

तब श्रीवृन्दादेवी गोपियों के सहित श्रीकृष्ण को सुवर्णमण्डल में पधरा कर ले गयीं तथा पूर्व की ओर की वेदिका के ऊपर कुसुम-शय्या पर उनको शयन कराया ॥७५ ॥

ततः सवृन्दोपनिनाय वृन्दा कल्पागवल्लीफलसम्पुटांस्तान्।
पूर्णान् विचित्राम्बरभूषणानुलेपाञ्जनैर्नागजवर्गकैश्च ॥७६ ॥

पश्चात् वृन्दादेवी ने सखियों के साथ मिलकर कल्पतरु के फल रूपी पिटारियों की (फल ही पिटारी का काम भी देती) विचित्र वस्त्रों, भूषणों, कुङ्कुम, चन्दनादि अनुलेप, सिन्दूर व तिलक से भरकर श्रीकृष्ण, श्रीराधा आदि के समीप ले जाकर उपहार भेंट किया ॥७६ ॥

तत्तन्नामाङ्कितानालीततिरादाय पेटकान्।
कृष्णं राधां सखीश्चामूः पृथक् पृथगभूषयत् ॥७७ ॥

उन फल रूपी पेटियों पर श्रीराधा, श्रीकृष्ण, ललिता आदि सखियों के नाम सब पृथक्-पृथक् लिखे हुए थे, अतएव सेवापरा सखियों ने अपनी अपनी पेटिका ले-लेकर श्रीराधा, श्रीकृष्ण एवं सखियों का पृथक्-पृथक् श्रृङ्गार किया ॥७७ ॥

हरिरुज्ज्वलरसमूर्त्तेरतिपरिणतिमूर्त्तयो हि राधाद्याः।
विधुरयमस्य कलास्ता एकात्मानोऽपि तत्पृथग्देहाः ॥७८ ॥

श्रीकृष्ण उज्ज्वल रस अर्थात् श्रृङ्गार रस की मूर्त्ति हैं तथा श्रीराधा आदि श्रृङ्गार-रस का स्थायी भाव जो रति है उस रति के परिपाक अर्थात् पराकाष्ठा की मूर्त्ति हैं। यह श्रीकृष्ण चन्द्रमा हैं, वे श्रीराधा आदि चन्द्रमा की कला रूपिणी हैं, अतएव चन्द्रमा और कलाओं में अभेद है। वे दोनों एकात्मा ही हैं तथापि लीला के लिए पृथक्-पृथक् देह धारण किये हुए हैं॥७८ ॥

मिथःस्नेहाभ्यङ्गरम्याः सख्योद्वर्त्तनसुप्रभाः।
तारुण्यामृतसुस्नाता लावण्यरसनोज्ज्वलाः ॥७९ ॥
मिथः सौभाग्यतिलकाः सौन्दर्य्यस्थासकाञ्चिताः।
अष्टाभिश्चित्रिताङ्गचश्च स्तम्भाद्यैर्भावविवर्णकैः ॥८० ॥
किलकिञ्चितविव्वोकाद्युन्मादोत्सुकतादिभिः।
नानाभावैरलङ्कारैः सुष्ठ्वलङ्कृतमूर्त्तयः ॥८१ ॥

सप्रियास्ता: प्रिया यद्यप्यन्तरित्थं विभूषिता:।
प्रियालिभिर्बहिरपि भूषिता भूषणैर्बभु: ॥८२ ॥
॥ चतुर्भि: कुलकम् ॥

आगे के चारश्लोकों में भी श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा व सखियों की यही एकात्मता वर्णित है यथा :- श्रीराधा आदि प्रियावर्ग परस्पर के स्नेह रूपी तेल के मार्जन (मालिश) से मनोहरा बन सख्यभाव का उबटना लगा सुन्दर कान्तिमती बन यौवन रूपी अमृत में स्नान कर, लावण्यरूपी वस्त्रों को धारण कर उज्ज्वलाङ्गी बनी हुई हैं॥७९ ॥

वे परस्पर के सौभाग्य रूप तिलक को धारण कर सौन्दर्य रूप अङ्गराज से युक्त हो स्तम्भ, स्वेद, पुलकादि अष्ट प्रकार के सात्त्विक भावों से विचिताङ्गी बनी हुई हैं॥८० ॥

वे किलकिञ्चित, विव्वोक, उन्माद व औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों तथा अङ्गज व स्वभावज विविध भावों के अलङ्कारों से सुन्दर रूप से अलंकृताङ्गी बनी हुई हैं॥८१ ॥

इस प्रकार समस्त प्रेयसी वर्ग प्रियतम से संयुक्त होने के कारण पूर्वोक्त भावालङ्कारों से बाहर-भीतर विभूषित होने पर उनकी शोभा दुगुणी प्रकाशित होने लगी॥८२ ॥

अनङ्गगुटिकां सीधुविलासं दुग्धलड्डुकम्।
आनीतं रूपमञ्जर्य्या यद्यानि वृन्दया वनात् ॥८३ ॥
फलानि रसरूपाणि मधुतुल्यरसानि च।
तान्यत्त्वाचम्य ताभि: स विवेश केलिमन्दिरम् ॥८४ ॥
॥ युग्मकम् ॥

अब दो श्लोकों में भोजनादि कार्य द्वारा भी उनकी एकात्मता दिखाते हैं, यथा :- श्रीकृष्ण आदि सबों के भोजन के लिए रूपमञरी अनङ्ग गुटिकादि, अमृतविलास, दूध व लड्डुएं ले आयी और वृन्दादेवी बिना गुठली व छिलकों के मधु जैसे मीठे व सरस फल ले आयीं। श्रीकृष्ण ने श्रीराधादि के साथ वह सब भोजन कर आचमन ले केलि मन्दिर में प्रवेश किया॥८३-८४॥

तस्मिन्मुक्तचतुर्द्वारि यमुनानिलशीतले।
कोटिसूर्य्यांशुसद्रत्नचयांशुपरमोज्ज्वले ॥८५ ॥

मनोजकेलीनिलयेऽगुरुधूपातिसौरभे।
विन्यस्तरत्नपर्य्यङ्के हंसतूलिकयान्विते ॥८६ ॥
सूक्ष्माम्बरावृतावृन्तसत्पुष्पास्तरणोपरि।
नानोपधानचित्रान्ते कृष्णः सुष्वाप कान्तया ॥८७ ॥
॥ सन्दानितकम् ॥

केलिमन्दिर व शय्या का वर्णन :- केलिमन्दिर के चारों द्वार खुले हुए हैं, वह यमुना की वायु से शीतल है, करोड़ों सूर्यों की किरणों की भाँति उज्ज्वल रत्नों की किरण माला से परम उज्ज्वल है, कामकेलि का निवास स्थल है, अगुरु धूप से सुगन्धित है, उसमें रत्नपर्यङ्क (पलङ्ग) बिछा हुआ है, हंसतूलिकाएं (कोमल गद्दियाँ) बिछी हुई हैं, ऊपर से सूक्ष्म वस्त्र व पुष्प की पंखरियों से आवृत है तथा नाना प्रकार के छोटे-मोटे, इधर-उधर तकिये लगे हुए हैं। ऐसी शय्या पर कान्ता के साथ श्रीकृष्ण ने शयन किया ॥८५-८७॥

पर्य्यङ्कपार्श्वस्थितखट्टिकायुगे सुखं निविष्टे ललिता-विशाखिके।
कृष्णास्य ताम्बूलचर्व्वितानने ताम्बूलमास्वादयतां निजेश्वरौ ॥८८

तब पलङ्ग के पार्श्व में स्थित दो छोटे-छोटे खटोलों पर ललिता व विशाखा दोनों ओर बैठ कर अपने ईश्वर-ईश्वरी श्रीराधा-कृष्ण को ताम्बूल अर्पण करने लगीं तथा श्रीराधाकृष्ण भी अपना चर्वित ताम्बूल ललिता-विशाखा के मुख में दे-दे कर आस्वादन कराने लगे ॥८८ ॥

श्रीरूपरतिमञ्जर्य्यौ पादसम्वाहनं तयोः।
चक्रतुश्चापरा धन्या व्यजनैस्ताववीजयन् ॥८९ ॥

उस समय श्रीरूपमञ्जरी व रतिमञ्जरी श्रीराधाकृष्ण के श्रीचरणों को चाँवने लगीं तथा अन्यान्य परम धन्यवती सखियाँ चँवर ढुलाने लगीं॥८९ ॥

क्षणं तौ परिचर्य्येत्थं निर्गताः केलिमन्दिरात्।
सख्यस्ताः सुषुपुः स्वे स्वे कल्पवृक्षलतालये ॥९० ॥

इस प्रकार कुछ समय तक सखियों ने श्रीराधाकृष्ण की सेवा करके, विलास मन्दिर से निकल अपने-अपने कल्पतरु निर्मित लता कुञ्ज में जाकर शयन किया ॥९० ॥

श्रीरूपमञ्जरीमुख्याः सेवापरासखीजनाः।
तल्लीलामन्दिरबहिःकुट्टिमे शिश्यिरे सुखम् ॥९१ ॥

(परन्तु) श्रीरूपमञ्जरी आदि सेवापरायण सखियों ने उसी लीला मन्दिर के बाहर की वेदिका पर ही सुख पूर्वक शयन किया ॥९१ ॥

यत्पालितं तातमुखैर्विवर्द्धितं लीलारसैर्मित्रगणैर्निषेवितम्।
भक्तैः सदास्वादितमेतदालिभिः श्रीराधया कृष्णरसामृतं फलम् ॥९२

इस प्रकार श्रीकृष्ण की रात्रि शेष पर्यन्त की अष्टकालीन लीलाओं का वर्णन समाप्त करके श्रीकृष्ण के चतुर्विध परिकरों दास, सखा, माता-पिता व प्रियागण में से मधुर परिकरों का ही सुखोत्कर्ष दर्शाते हैं, यथा :- जिस रसामृतफल का नन्दयशोदा ने वात्सल्य रस द्वारा लालन-पालन किया, सुबल-मधुमङ्गलादि सखाओं ने सख्य लीलारस द्वारा निरन्तर पुष्ट कर बढ़ाया, तथा रक्तक-पत्रक आदि दासों ने दास्यलीलारस से निरन्तर सेवा-शुश्रूषा की, उसी श्रीकृष्ण रूपी रसामृत फल को सखियों सहित श्रीराधा ने मधुर लीलारस द्वारा सर्वदा आस्वादन किया अर्थात् सम्भोग सुख का अनुभव किया॥९२॥

कृष्णस्य वृन्दाविपिनेऽत्र राधया लीला अनन्ता मधुराश्चकासति।
क्षणे क्षणे नूतननूतनाः शुभा दिङ् मात्रमेतन्मयका प्रदर्शितम् ॥९३

अब ग्रन्थकार श्रीकृष्णदास कविराजगोस्वामी महाशय कहते हैं कि श्रीवृन्दावन में श्रीराधा सहित श्रीकृष्ण की अनन्त मधुर लीला क्षण-क्षण में नवीन-नवीन रूप से प्रकाशित हो रही है। मुझ क्षुद्र ने केवल उसका दिग्दर्शन मात्र ही कराया है॥९३॥

श्रीरूपदर्शितदिशा लिखिताष्टकाल्या
श्रीराधिकेशकृतकेलिततिर्मयेयम्।
सेवाऽस्य योग्यवपुषाऽनिशमत्रचास्या-
रागाध्वसाधकजनैर्मनसा विधेया ॥९४॥

श्रीरूपगोस्वामीपाद के प्रदर्शित पथ अर्थात् उनके बताये हुए स्मरणमङ्गल के अनुसार श्रीराधाकृष्ण की "प्रातः, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायाह्न, प्रदोष, मध्यरात्रि व निशान्त ये अष्टकालीन लीलाएँ मैंने लिखी हैं। रागमार्गानुगत साधक भक्तगण, अन्तश्चिन्तित योग्यवपु अर्थात् गुरुपदिष्ट सेवायोग्य देह द्वारा अथवा साधकावस्था में भावना द्वारा समय समयानुसार इन लीलाओं का आस्वादन करें॥९४॥

पादारविन्दभृङ्गेण श्रीरूपरघुनाथयोः।
कृष्णदासेन गोविन्दलीलामृतमिदं चितम् ॥९५॥

श्रीरूप व श्रीरघुनाथदासगोस्वामी युगल के चरण कमलों के भ्रमरस्वरूप इस श्रीकृष्णदास ने यह गोविन्दलीलामृत मधु सञ्चय किया

अर्थात् भ्रमर जैसे पुष्पों में से मधु सङ्ग्रह करता है ऐसे ही मैंने भी अपार अनन्त श्रीकृष्णलीलामृत सागर में से कुछ अमृतकणों का उद्धार किया है॥९५॥

यैरेतत्परिपीयते हृदि लसत्तृष्णातिरेकान्मुहु–
र्ब्रह्माद्यैरपि दुर्गमं व्रजविधोर्लीलामृतं राधया।
वृन्दारण्यविलासिनीकुमुदिनीवृन्दस्य बन्धुर्व्रजे
कारुण्यादचिरेण वाञ्छिततमं तेषां तनोतु स्वयम् ॥९६ ॥

फलश्रुति वर्णन :- श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण के श्रीराधिका के साथ लीलामृत स्वरूप, ब्रह्मादिकों को भी दुर्लभ इस गोविन्द लीलामृत को जो अतिशय लालसापूर्वक पान करेगा अर्थात् श्रवण व पठन करेगा उसको वृन्दावन विलासिनी गोपीरूप कुमुदिनियों के प्राणबन्धु श्रीकृष्ण उसके अभीष्ट फलरूप युगलसेवा प्राप्ति को स्वयं ही प्रदान कर देङ्गे॥९६॥

श्रीचैतन्यपदारविन्दमधुप श्रीरूपसेवाफले,
दिष्टे श्रीरघुनाथदासकृतिना श्रीजीवसङ्गोद्गते।
काव्ये श्रीरघुनाथभट्टवरजे गोविन्दलीलामृते,
सर्गोऽयं रजनीविलासवलितः पूर्णस्त्रयोविंशकः॥९७॥

॥ इति श्रीकृष्णदासकविराजगोस्वामिविरचितं
श्रीगोविन्दलीलामृतं महाकाव्यं समाप्तम् ॥

यह गोविन्दलीलामृत श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के पदारविन्दों के मधुपस्वरूप श्रीरूपगोस्वामी की सेवा का फल है, श्रीरघुनाथदासगोस्वामी द्वारा प्रेरित है, श्रीमज्जीवगोस्वामी के सत्सङ्ग से उदय हुआ है तथा श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामी के वर के प्रभाव से प्रादुर्भूत है। इस प्रकार यहाँ श्रीगोविन्दलीलामृतमहाकाव्य का यह रजनी विलासात्मक तेइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ। ॥२३॥

शास्त्रिणा हरिदासेन वृन्दारण्य निवासिना।
पूरिता विमला भाषा जनानां बोध हेतवे॥

श्रीहरिदास शास्त्री सम्पादित ग्रन्थावली

(श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस से प्रकाशित)

क्रम सद्ग्रन्थ	मूल्य
१-वेदान्तदर्शनम् भागवतभाष्योपेतम्	१५०.००
२-श्रीनृसिंह चतुर्दशी	१०.००
३-श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	२०.००
४-श्रीगौरगोविन्दार्चनपद्धति	२०.००
५-श्रीराधाकृष्णार्चनदीपिका	२०.००
६-७-८-श्रीगोविन्दलीलामृतम्	४५०.००
९-ऐश्वर्यकादम्बिनी	३०.००
१०-श्रीसंकल्पकल्पद्रुम	३०.००
११-१२-चतु:श्लोकीभाष्यम्, श्रीकृष्णभजनामृतम्	३०.००
१३-प्रेम सम्पुट	४०.००
१४-श्रीभगवद्भक्तिसार समुच्चय	३०.००
१५-ब्रजरीतिचिन्तामणि	४०.००
१६-श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	३०.००
१७-श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश	५०.००
१८-श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	५.००
१९-श्रीहरिभक्तिसारसंग्रह	५०.००
२०-धर्मसंग्रह	५०.००
२१-श्रीचैतन्यसूक्तिसुधाकर	१०.००
२२-श्रीनामामृतसमुद्र	१०.००
२३-सनत्कुमारसंहिता	२०.००
२४-श्रुतिस्तुति व्याख्या	१००.००
२५-रासप्रबन्ध	३०.००
२६-दिनचन्द्रिका	२०.००
२७-श्रीसाधनदीपिका	६०.००
२८-स्वकीयात्वनिरास, परकीयात्वनिरूपणम्	१००.००
२९-श्रीराधारससुधानिधि (मूल)	२०.००
३०-श्रीराधारससुधानिधि (सानुवाद)	१००.००
३१-श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्	३०.००
३२-श्रीगौरांग चन्द्रोदय	३०.००
३३-श्रीब्रह्मसंहिता	५०.००
३४-भक्तिचन्द्रिका	३०.००

बंगाक्षर में मुद्रित ग्रन्थ

अंग्रेजी भाषा में मुद्रित ग्रन्थ

अन्य भाषाओं में मुद्रित ग्रन्थ

॥श्रीहरिः॥

गाय बची तो मनुष्य बचेगा

योगी अश्विनी (अमर उजाला से साभार, २६ अप्रैल २०१३)

हमारे पूर्वज सृष्टि के नियमों और प्रक्रिया विधि को अच्छी तरह जानते थे। उन्हें गाय के महत्व का पता था और उसे सताने, उसका उत्पीड़न करने से होने वाले परिणामों का भी ज्ञान था। इसलिये इतिहास में सभी संस्कृतियों व धर्मों में यदि गाय को पूजा जाता था तो इसमें कोई अचम्भे वाली बात नहीं थी। चाहे वह मिस्र देश की देवी हाथोर हो, फ्रांस की दिव्य गाय दामोना हो, अति प्रचीन गाय औधुम्बला हो जो नॉर्डिक्स के अनुसार मानवता की जननी थी, ग्रीक देवी लो हो, भगवान् शिव का प्रिय नन्दी हो या फिर समृद्धि लाने वाली गाय कामधेनु हो, सभी प्रतीकों में गाय को आराध्य बताया गया है, क्योंकि जीवन की धुरी इस प्राणी के इर्द गिर्द घूमती थी। अथर्ववेद के अनुसार धेनु सदानाम रईनाम (११-१-३४) गाय समृद्धि का मूल स्रोत है। इस मन्त्र से सिद्ध हो जाता है कि वैदिक ऋषियों को सृष्टि की कितनी गहरी समझ थी। गाय को देखें तो ज्ञात होता है कि इसी के कारण हमें दूध व अन्य डेयरी उत्पाद मिलते हैं, इसके गोबर से ईंधन व खाद मिलती है, इसके मूत्र से दवायें व उर्वरक बनते हैं। जब बैल हमारे खेतों में चलते हैं तो खेत जुतते हैं और दीमक दूर हो जाते हैं, जब हम देवों से सम्पर्क साधना चाहते हैं तो हम गाय के घी व उपले से यज्ञ करते हैं। जब गाय ने कबीर के माथे को चाटा तो कबीर को अद्भुत काव्यगत क्षमताओं का आशिर्वाद मिल गया। गाय समृद्धि व प्रचुरता की द्योतक है, वह सृष्टि के पोषण का स्रोत है, वह जननी है।

आज गोजातीय देवी का अपमान किया जा रहा है, उसका शोषण हो रहा है और बड़ी बेरहमी से उसका संहार किया जा रहा है। जिस गाय को कभी मन्दिरों और महलों में रखा जाता था, आज उसे ऐसे स्थानों में रखा जा रहा है जहाँ ताजी हवा नहीं है, उसे प्लास्टिकादि के कूड़ाघर में पेट भरने के लिए छोड़ दिया जाता है। उसे स्टेरायड व एन्टीबायोटिक कृत्रिम गर्भधारण करवाया जाता है और अन्त में हमें मांस का भोग करने के लिए मार दिया जाता है। दुनिया में प्रचलित सभी धर्मों में कर्म के विधान को महत्व दिया गया है। धर्म मार्ग के शिक्षाओं का सारतत्व यह है कि जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे। आप कल्पना कर सकतें हैं कि हमें पोषण देने वाली और हमारा पालन करने वाली गाय का शोषण कर हम कैसे कर्म एकत्रित कर रहें हैं। हमारे शरीर पर इसका प्रभाव तुरन्त दिखाई देता है और हमारे जीवन पर इसका प्रभाव प्रकट होने में कुछ वर्ष का समय लगता है।

श्रीहरिदास शास्त्री

संस्थापकाध्यक्ष :-

श्रीहरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान

श्रीहरिदास निवास, पुराना कालीदह,

वृन्दावन, मथुरा, (उत्तर प्रदेश)।